सुलभ-साहित्य-माला

सुनीता

लेखक

श्री जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रस्तावना

यह पुस्तक तो पाठकके हाथमे है ही, साथ ही मै पाठकसे सीधी भी कुछ बातचीत करना चाहता था। पाठक पुस्तकमें मुझे मुश्किलसे पाएगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्दमें नहीं हूँ। लेकिन पुस्तकके जिन पात्रोंके माध्यमसे मैं पाठकको प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थानपर उन पात्रोंके अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओटमें हो जाता हूँ।

सृष्टि स्रष्टाको छिपाए है। मुझे भी अपने इन पात्रोंके पीछे छिपा मानें, पर सृष्टि स्रष्टाको ही व्यक्त करती है, और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करनेको बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है, स्रष्टा कहाँ दीखता है?

पर सिरजनहारके समान निस्पृह मैं कहाँ? यद्यपि इस पुस्तकके नाना पात्रोंमें मैं ही बोल रहा हूँ तो भी पाठकके हृदयको सीधा पानेकी इच्छा जीमें शेष रह ही जाती है। पुस्तकमें रमे हुए मुझको पाठक जैसे चाहें, समझें। किसी पात्रमें मैं अनुपास्थित नहीं हूँ, और हर-एक पात्र हर दूसरेसे भिन्न है। उनकी सब बातें मेरी बात है। फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं है, क्योंकि मेरी कहाँ, वे तो उनकी हैं।

इच्छा थी कि निर्गुण-सा जँचनेवाला कुछ सभाषण पुस्तकके समाप्त होने पर मैं पाठकसे अवश्य कर लूँगा। सच यह है, कि मैं काफी बात करना चाहता था। लेकिन मन अब धीमा हो गया और अब यहाँ कुछ विशेष लिखनेका उत्साह नहीं रह गया है।

पुस्तकमें मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी

सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियोंसे ही मेरा काम चल गया है। इस विश्वके छोटेसे छोटे खण्डको लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्यके दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्यके दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्डमें भी है। इसलिए अपने चित्रके लिए बड़े कन्वासकी जरूरत मुझे नहीं लगी। थोड़ेमें समग्रता क्यों न दिखायी जा सके ?

७, दरियागञ्ज
दिल्ली १६-६-३५ | जैनेन्द्रकुमार

दूसरे संस्करणके समय

इस पुस्तकको मैंने एक बार फिर देख लिया है। जहाँ तहाँसे छुआ भी है। किन्हीं स्थलोंपर झलकमें ज़रा कुछ अन्तर भी हो जाने दिया है। पर सब ऐसे कि पाठककी ‘सुनीता’ वही रही है। जानता हूँ कि जब पाठकके सीधे परिचयमें ‘सुनीता’ आ गई तब मेरा स्वत्वपूर्ण लगाव उसपरसे हट जाना चाहिए। इससे मैंने उसमें फेरफार नहीं किया है, जहाँ-तहाँसे वस्त्रकी सलवट कुछ निकाल दी है। इसलिए कि दूसरे सस्करणमें मुझसे यह सावधानता माँगी जा सकती थी।

जैनेन्द्रकुमार

सुनीता

१

श्रीकान्तने अनिवार्य बी० ए० किया, एल्‌एल्‌० बी० किया, शादी की और प्रैक्टिस शुरू कर दी। वह गिरिस्ती और प्रैक्टिस गिरती-पड़ती चलने भी लगी हैं। पर, हरिप्रसन्नकी याद दूर नहीं होती। वह याद खलल डालती है।

हरिप्रसन्नका अब ठीक पता नहीं है। कॉलिजमें वह मिला था। मिला कि वह श्रीकान्तके जीमें बस चला। खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एकदम अज्ञेय—ऐसा वह था। सबके सब काम आता था। सदा व्यस्त रहता था। किन्तु उसके बारेमें ज्यादा जानकारी किसीके पास न थी।

श्रीकान्त आधा मन देना नहीं जानता। पर हरिकी थाहका पता न मिलता था। परिणाम यह था कि यद्यपि श्रीकान्त अवस्थामें और श्रेणीमें बड़ा था और उसके खर्चका भी अधिकाश बोझ उठाता था, फिर भी, आपसी सम्बन्धोंकी अपेक्षा, श्रीकान्त कुछ अनुप्रार्थी और अनुगृहीत प्रतीत होता था, हरिप्रसन्न प्रधान और अपेक्षणीय।

बात यह थी कि परस्परमें स्नेहका समस्त व्यय श्रीकान्तकी ओरसे था। हरिप्रसन्न अपने सब काम-काज और मेल-जोलके व्यापारद्वारा अपनेको अधिकाधिक सचित ही पाता था, स्वय खर्च नहीं होता था। अतः सार्वजनिकता उसके स्वभावमें खूब थी। यह सार्वजनिकता उसे घटाती तनिक न थी, परिपुष्ट ही करती थी।

इधर श्रीकान्तकी वृत्तिमें सार्वजनिकताको अवकाश न था। अपने परिमित परिचय-क्षेत्रमें ही वह पैसेका, स्नेहका, चिन्ता-भावनाओंका इतना व्यय करता चलता था कि सार्वजनिकताके योग्य प्राणोंकी पूँजी उसके पास न बचती थी।

हरिप्रसन्न बहुत ताजा रहता था; उद्यत, प्रसन्न, हलका और स्कीमिंग। यह कर, वह कर—सदा इसीमें दीखता। किसीका आभार न मानता, न चाहता कोई उसका माने। मिलनसार था और बहुत तरहके काम जानता था।

श्रीकान्त अपनेमें रहता था। मानो कर्तव्य उसके सामनेसे प्रतिक्षण ओझल हो जानेकी चेष्टामें है, इससे प्रतिक्षण उसे अपने सामने भरपूर देखते रहनेकी चेष्टामें रहना चाहिए। धर्म उसके लिए तर्कका विषय नहीं था। वह कम बोलता था, कम मिलता था, अपने ऊपर दूसरेके खर्च हुए पैसेका ख्याल रखता था। व्यायाममें नियमित था, और लड़ना उसके लिए असम्भव न था। वह कुशलसे अधिक खरा था।

श्रीकान्त पक्का कम न था पर स्फूर्तिके लिए मानो हरीकी अपेक्षा रखता था। हरी सुझाता, श्रीकान्त करता। बारीकियोंमें हरीकी बहुत पैठ थी। श्रीकान्त वहाँ बढ़नेसे बचता था। धर्म हरीके लिए उपयोगकी, और कभी प्रयोग और विनोदकी भी वस्तु थी। श्रीकान्त ऐसी जगह खिन्न भावसे तनिक मुस्करा देता था, दलील न करता था।

श्रीकान्त खुले मन, पुष्ट देह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्तिका पुरुष था।

हरिप्रसन्नका चेहरा कुछ नुकीला और काया स्वल्प थी। छुटपनसे वह अपनेको पिताके घरसे तोड़कर भाग आया था और जहाँ हो, जब हो, अपने लिए जगह बना लेनेके बारेमें वह बेफिक्र रहता था। वह वृत्तिसे कुछ संदेहशील, चतुर, कर्म-कुशल, तीक्ष्णबुद्धि और परिस्थितिसे असम्पन्न था। वह अत्यन्त परार्थ-तत्पर था, पर स्वय खटाईमें न पड़ता था। जीवनके सम्बन्धमें वह हिसाबी था, पर स्थूल हिसाबपर न चलता था। वह अपने दिए पैसे और लिए पैसे भूलता नहीं था, पर ऐसी बात कभी मुँहपर नहीं लाता था। वह किसीसे नहीं लड़ सकता था, क्योंकि सबसे बना सकता था। और कोई सिद्धान्त उसके निकट ऐसा अन्तिम और ऐसा अपना न था कि उसको लेकर किसीसे उलझनेकी धुन उसमें चढ़े...

२

अब जब पक्की सड़ककी राह चलते चलते श्रीकान्त गृहस्थ वकील बन गया है तब सोचता है कि अरे, वह हरिप्रसन्न कहाँ है? वह भला है कि गृहस्थीमें नहीं है, और वकालतमें नहीं है। क्या अब भी वह जीवनके साथ परीक्षण करनेमें वैसा ही

उदात्त है ? वैसा ही उद्यत है ? मैं तो जिम्मेदार नाग[illegible] हूँ। परीक्षण हमारे लिए नहीं है। कानून-सम्मत नागरिकता हमारे लिए है।

सोचता है, और फिर अपनी कुर्सीपर बैठा सामने शून्यमें हाथ बढ़ाकर मानों ऐसे विचारोंको धकेलकर अपनेसे परे भी हटाता है।

पत्नी सुनीता हल्की पढ़ी-लिखी नहीं है, और दोनों सम्मत हैं कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है। समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले यदि जीवन परीक्षणके लिए ही समझ लिया जाय और कानून तोड़नेहीके लिए ? क्या, सच, मानवता नहीं कायम है उस रीढ़-संस्थाके सहारे जिसे 'कुटुम्ब' कहते हैं और जो विवाहपर टिकी है ?

श्रीकान्त जानता है कि वह इससे सहमत है। फिर भी मानो अपनेसे पूछता है, 'हाँ ?' पूछता है, और कुछ देर बाद उत्तरमें जैसे भीतर ही भीतर 'क्यों नहीं' दोहराता हुआ वह असगत भावसे उठ पड़ता है, और तेज चालसे अपने कमरेमें चलने लगता है।

सुनीता ? वह उच्च शिक्षिता है। वह तानिक भी इस तरह नहीं रहती कि लोग न समझें वह उच्च शिक्षता नहीं है। कुछ दिनोंसे नौकर हटाकर घरका काम-धन्धा करना शुरू कर दिया है। चौका-बासन भी करती है। हारमोनियम और वायलिन-पर धूल चढ़ने देती है। और पुस्तकोंको भी अलमारियोंमें चुप लेटे रहने देती है।

सुनीता,—सुन्दरी सुशीला सुनीता जब इसी तरहके काम कर रही होती है, तब यदि अकेले हुए और खाली हुए तो श्रीकान्त सामने दीवारमें एकटक देखते हुए एक साँस लेते हैं, और उठकर टहलने लगते हैं।

और, काम कर चुकनेके बाद सुनीता,—अनिन्द्य-यौवना सुनीता कामसे चुक गई हुई, और निरुद्देश कमरेमे हुई तो सामने दीवारमें एकटक देखती हुई एक भरी साँस लेती है, दूसरी लेती है और फिर झटपट और किसी नये कामको ढूँढ़ डालती है और उसमें लग जाती है।

विवाहको तीन वर्ष हुए हैं, कुल तीन वर्ष। और कैसी पत्नी उसे मिली है ?— विरलोंमें विरल। क्या वह यह नहीं जानता ? जानता है। . किन्तु कभी कभी संध्याकी बेलामें जब अँधियारा फीका होता है, और चौकेमेंसे सुनीताके बासन माँजनेकी आवाज बिना सुने सुनाई देती है, तब पिछली गड़ी बातें अँगड़ाई लेतीं उखड़ती-सी हैं और श्रीकान्तको होता है—'अरे, यह क्या है ? क्या है ?' बहुत कुछ, सब कुछ उसे याद आता है। याद आता है कि एक समय था जब

वे दो पढ़ते थे। वे दो एक थे और हरिप्रसन्नने पूछा था—

'बताओ, तुम क्या समझते हो कि मैं बनूँगा?'

श्रीकांतने कहा था, 'मैं नहीं जानता लेकिन तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है।'

'उज्ज्वल! शायद।'

कहकर हरिप्रसन्न क्षण-भरके लिए अँधेरा-सा पड़ गया था। मानो वह सामने कुछ भयावना देखता हो।

उसने कहा था—'देखो, हरि। तुम्हारे बारेमें कुछ कहना मेरे लिए अशक्य है। लेकिन हम अलग अलग चले, और फिर कभी हमारी राहें मिलीं तो हम देखेंगे, मैं एक जगह हूँ, तुम चल रहे हो। बढ़ना नाम चलनेका है या नहीं, मैं नहीं जानता हूँ।'

फिर कुछ देर सब कुछ चुप हो रहा था। अनन्तर हरिप्रसन्न अपने आपमेंसे एकाएक असंगतरूपमें एक-साथ कह उठा था—

'कुछ लोग करोड़पति बने। कुछ नई उमरमें फाँसी चढ़कर चुक गए। उन्होंने जगत्‌को न किसी नवीन प्राणीका दान दिया, न पुस्तकका, न मैन्युफैक्चर्ड द्रव्यका। उन्हें याद करनेकी कोई बात नहीं। फिर भी क्या आगे बढ़कर ऐसे अपनाई गई मौत व्यर्थ है? बताओ, व्यर्थ है?'

तब उसका हाथ थामकर श्रीकान्तने गम्भीर वाणीमें कहा था, 'मौत आगे बढ़कर अपनाने लायक़ चीज़ नहीं है, हरि। उसका आकर्षण है तो समझो उसका भय है। अपनी ओरसे उसे अपना काम करते रहने देना काफी है।'

हरि चुप हो गया था।

श्रीकान्तको याद आता है कि उस समय उसके मनमें जम गया था कि यह आदमी हरिप्रसन्न मौतके विचारके साथ हेल-मेल बढाना चाह रहा है।

और उस ही वर्ष एक षड्यन्त्रका विस्फोट हुआ। हरी पकड़ा गया और दूर-दूरके लोग पकड़े गए। कुछको फाँसी हुई, बहुतोंको जेल। दो सालकी सजा हरीको हुई।...फिर असहयोग और सत्याग्रह आया। हरिप्रसन्न उसमें झुका। जेलपर जेल वहाँ भी हुई। दो बरस हुए तक पत्र आते रहे थे।—अब?

यह सब कुछ याद आता है और श्रीकान्तके मनमें प्रश्न होता है, 'अब? अब वह कहाँ है? कैसा है? मैं तो घर-गिरस्तीके बीचमें हूँ, और किनारेसे आगे बढ़कर वकालतके भी बीचमें हो रहा हूँ। चारों ओरसे सुरक्षित, उपसेव्य। वह अभागा भटकते रहनेके लिए अभी जिन्दा है कि नहीं?...'

उसी समय सुनीताने धीमेसे आकर दूसरी बार कहा, “दूध ठण्डा हो रहा है । लाऊँ ?”

श्रीकान्तने मुँह ऊपर उठाकर कहा, “दूध ? ठहरो, हरीका पिछला पत्र उसी तुम्हारीवाली डायरीमें है ना ? उसे देखना । न हो, उसके पुराने पतेपर ही लिखेंगे । और एक अपनी तस्वीर भी देना । शादीसे ठीक पहलेवाली,—वही जो गजब की है । (वह मुस्कराया । सुनीता ख़ुश हुई ।) समझीं ? भले आदमीको पता तो चले कि क्यों जङ्गल और गाँव और जेलकी खाक छानता फिरता है । युवती रमणी और,—और निर्मल शिशु भी दुनियामें हैं । इनको इन्कार कर वह स्वराज्य लेगा ! ..तुम अपनी तस्वीर जरूर कल देना ।”

सुनीताने यही कहा, “तो लाऊँ दूध ?”

“दूध ?” प्रसन्न श्रीकान्तने कहा, “हाँ, जरूर लाओ ।”

३

श्रीकान्तने सुनीताके सो जानेपर रातमें पत्र लिखना शुरू किया । लिखा—

“प्रिय हरी, तीन सालसे ऊपर हो गए जब तुम्हारा पत्र आया था । कल हमने उसे टटोलकर नए सिरेसे पाया । हमने !—यानी अब मैं अकेला नहीं हूँ । मेरा विवाह हो गया है और अब तक मेरी पत्नी तुम्हारी और तुम्हारे पत्रोंकी मित्र हो गई है । हम दोनोंने वह पत्र पाया और तीन साल हो गए हैं तो क्या, मैं उसी तुम्हारे पतेपर आज लिखनेकी हिम्मत कर रहा हूँ । यह खत तुम्हें पा जाय तो फौरन मुझे अपने हाल-चाल लिखना । यों मुझे उम्मीद नहीं कि तुम मेरे खतके हाथ आनेवाले हो ।

“मैंने ऊपर लिखा, मैं एक नहीं, अब हम दो हैं । ऐसा मालूम होता है, अगर आरम्भसे व्यक्ति अपने साथ जोर-जबरदस्ती न करे तो समय आता है और वह अपनेको दो पाता है । कह सकते हो, विवाह समाजकी सृष्टि है, मनुष्यके भीतर प्रकृत रूपसे वह नहीं है । लेकिन एकसे दो होनेकी अपेक्षा, आवश्यकता, जान पड़ता है, मनुष्यके भीतर तक व्याप्त है । न कहो विवाह, कहो प्रेम । लेकिन आदमी अपनेमें अपनेको पूरा नहीं पाता । दूसरेकी अपेक्षा उसे है ही ।

“नहीं मालूम, तुम्हारा क्या हाल है और क्या अनुभव है । तुम देश-देशमें भटका किए हो, तरह-तरहके हालात तुमने देखे हैं । मुझे आशा है, तुम अभी तक अकेले ही हो । क्या तुम अपने अकेलेपनमें अपनेको कभी कभी भूखा नहीं

पाते ? अगर पाते हो तो उसका इन्तजाम करनेकी भी कुछ सोचते हो ? या उस भूखपर विजय पाना तुमने अपना धर्म बना छोड़ा है ?

" पत्रके साथ तुम अपनी भाभीका चित्र पाओगे। यह तो मैं समझता हूँ कि तुम जानते हो, दुनियामें स्त्री भी है। लेकिन मुझे भय है, तुम शायद स्त्रीके होनेको इसी तरह जानते हो जैसे और पदार्थके होनेको। जैसे वनस्पति है, फूल है, नदी है, झरना है, वैसे ही स्त्री भी है। क्यों, कहो, यह बात नहीं है ? लेकिन मैं कहता हूँ, यह बात ग़लत है। आदमी यह नहीं कर सकता। स्त्रीको 'स्त्री' संज्ञा देकर पुरुषको न छुटकारा है, न होगा। उसे कुछ न कुछ और भी कहना होगा। माता कहो, बहिन कहो, पत्नी कहो, उपपत्नी कहो, प्रेमिका कहो,—कुछ न कुछ अपनापन जतलाए बिना मात्र 'स्त्री' संज्ञाका प्रयोग करके उस स्त्री-द्रव्यसे छुट्टी तुमको नहीं मिलेगी।

" अपनी भाभीकी तस्वीर देखो, और कहो, तुम्हें स्त्रीसे छुट्टी चाहिए ? उनकी आँखें मुझे बहुत तङ्ग करती हैं। तुम जानते हो, परवश होना मुझे कभी नहीं भाया। पर जहाँ वश न चले वहाँ क्या हो ? निश्चय, परवशतामें सुख नहीं है। किन्तु नितान्त एकाकी स्वाधीन होकर कैसे सुख मिल सकता है, यह भी मैं नहीं जानता। मुझे ऐसा मालूम होता है कि आदमीको समर्पित होना होगा। ताड़के पेड़की तरह ऊँचा तनकर अकेले खड़े रह सकनेमें आदमीकी सिद्धि है, यह मैं नहीं मानूँगा।

" तुम लोग कहाँ जा रहे हो ? जाओ जेल, जाओ जेल, जाओ जेल,—यही मोक्ष है ? यही धर्म है ? घर न बनाओ; यहाँसे वहाँ भटको, वहाँसे यहाँ; सेवामें लगे रहो चाहे तनपर चिथड़ा न हो; और तुमसे प्रत्याशा रखनेवाले भूखे रहें और तुम निरन्तर घटते जाओ,—यह क्या है ?

" मैं बहस नहीं करना चाहता। तुम जानते हो, मुझसे तुम ही बहसमें जीता किए हो ! लेकिन मैं कहता हूँ, तुम्हें थोड़े दिनोंका भी अवकाश हो और स्वास्थ्य इस लायक़ हो तो यहाँ आ जाओ। मैं ख़र्चको रुपए भेजता था, पर मुझे लज्जा आती है। लेकिन तुम्हें जिस तरहकी ज़रूरत हो मुझे लिख देना। तुम सबल आदमी हो, लज्जासे ऊँचे हो। यहाँ आओ, रहो, और तबियत न माने तो पाँच-छः रोज़में फिर चले जाना। मुझसे ज्यादा अपनी भाभीका अनुरोध समझो। मैं तुमसे कहता हूँ, वह माननीय हैं। और तुम भारतीय संस्कृतिको जानते हो; स्त्री पूज्या है। तुम उस संस्कृतिके उद्धारक होकर उनकी बातकी रक्षासे विमुख होगे ?

मुझे टालो, पर अपनी भाभीका आग्रह तो रक्खो।

"हरी, तुम आ जाओ। लिखो, तुम कब आ रहे हो। और भाभीकी तस्वीरके बारेमें सच सच कहना, तुम क्या कहते हो। कितने ही देश-भक्त बनो, सुरुचि तुमसे नहीं छूट सकती। और झूठ भी तुम नहीं बोलोगे।

"मैं वकालत करता हूँ, और वह बेचारी भी कुछ कुछ साथ देती रही है। लेकिन हम दोनोंका कुछ आन्तरिक मेल नहीं। मैं उसे रिझा नहीं सकता दीखता। और तुमको मालूम है उसके हर साल एकसे एक बढ़कर पाणिप्रार्थी युवा लोग मैदानमें आते-जाते हैं।

"तुम्हारे पत्रकी बाट देखूँगा। जिन्दगीमें कुछ नए रङ्गका प्रवेश होता रहना चाहिए और तुम, आशा है, कुछ नई वायु अपने साथ हमारे घरमें लाओगे। हम दोनोंका स्नेह। तुम्हारा—श्रीकान्त"

यह पत्र चित्रके साथ विधिपूर्वक भेज दिया गया। और भटक-भटका कर विधिपूर्वक वह पत्र डी० एल० ओ० से वापस आ गया।

४

पत्र लेकर कुछ देर तक उसे देखता रहा और फिर चुपचाप मेजकी दराजमें रख दिया।

श्रीकान्त चाहता है, घरमें कुछ ऋतु बदले, नहीं तो वहाँ अलसता और जड़ता-सी छाती जाती है। बहुतेरी बार ऐसा हो गया है कि एक कमरेमें होनेपर भी कई मिनट तक उसे सुनीतासे कहनेको कुछ नहीं सूझा है, और सुनीता भी चुपचाप रही है। तब दम घुट घुट गया है। ऐसा क्यों हो जाना चाहिए, इसका कोई समर्थन, कोई कारण उसके मनको नहीं मिलता।

कचहरी जानेसे पहले हरिप्रसन्नके लौट आए खतकी बातको लेकर श्रीकान्त अन्दर गया। कहा, "सुनती हो? हरिप्रसन्नका कहीं पता नहीं है। हमारा वह पत्र वापिस लौट आया है।"

सुनीताने सुन लिया। वह अपना चौकेका काम करती रही, और उसने कहा, "अच्छा।" यह 'अच्छा' उसने इस तरह कहा जैसे 'यह बात हो गई, मैंने सुन ली। अब आगे भी और कुछ कहना है?'

श्रीकान्त इस चारों ओरसे सपाट कटे हुए 'अच्छा'को सुनकर अप्रतिभ-सा रह गया। उसने कहा, "सुनीता, यह एक-दम इस बे-लाग ढंगसे सुननेकी बात नहीं है।"

सुनीताने कहा, " तुम्हें आज कचहरीमें देर तो नहीं हो जायगी ? " श्रीकान्तने उदास पड़कर कहा, " नहीं, देर नहीं हो जायगी। पर कचहरी जानेमें देर हो जाय, यह इच्छा करते भी मैं तुम्हें कभी पा सकता हूँ या नहीं ? "

सुनीताने हठात् कोमलतासे कहा, " तुम तो बिगड़ते हो। लो कहो, क्या कहते हो ? "

" नहीं, मुझे कुछ नहीं कहना है। मुझे कचहरीमें देर हो जाएगी। "

श्रीकान्तने कहा और वह धीरे धीरे कदम रखता हुआ कचहरीके लिए चल दिया।

सुनीता अपना काम करती रही, करती रही। जब काम खत्म हो गया, तब कमरेमें आ गई। सोचने लगी, कि वह तो मुझसे यों ही बिगडते रहते हैं। लेकिन क्या सच, यो ही बिगड़े रहते हैं ? मैं अपनेमें क्यों उन्हें बाँधकर नहीं रख पाती ? मैंने इन पिछले दिनों अपनेमेंसे क्या खो दिया है कि उनके सामने फूल-सी खिल नहीं जाती हूँ ?

बात यह है कि पानी बहते बहते कहीं बँध गया है। उसे खुलना चाहिए। जीवनको कुछ बहिर्गमन मिले, और घरके भीतरकी गृहस्थीको घरके बाहरकी दुनियाका अधिक और संसर्ग, अधिक और संघर्ष मिले तो शायद कुछ रसकी सृष्टि हो, चैतन्य जागे। बद्धपरिमाण, एक ही एक ढँगके रहनेसे नई समस्याएँ कहाँसे उठेंगी ? और जब तक नवीनतर वर्तमान, प्रतिपल नवीनतर परिस्थिति और नवीनतर प्रश्न नहीं सामने आते हैं, तब तक आकांक्षा और कर्ममे भी नव्य बोध और प्राणोंमें नव स्फूर्ति कैसे होगी ?

सुनीता अपने घरमें फैले निरानन्दको हृदयङ्गम करती है, और जब सोचती है कि यह कैसे हटे, तो अस्पष्टरूपमें ही वह पाती भी है कि अपने जीवन और घरके किवाड़-खिड़कियाँ खोल दे, खूब हवा आने जाने दे, तभी ठीक होगा। हवामें जो अशुद्ध है उसे युद्ध करके परास्त करना होगा। जो शुद्ध है उसे अङ्गीकार करना होगा। किन्तु हवाको तो इस घरमें आरपार बहते ही रहने देना होगा। अस्वीकरण और अङ्गीकरण, दोनोंकी क्षमता अपने प्राणोंमें जगानी होगी। और इस प्रकार अपनेको और अपने घरको पुष्ट और विशद बनाते चलना होगा।

वह सोचती है, अब दशहरेकी छुट्टियाँ होनेके ज्यादा दिन नहीं हैं। कहूँगी, चलो कहीं बाहर चलें। और इस बार प्रयागके कुम्भके मेलेमे भी जरूर

जाना चाहिए। मैं समझती हूँ कि दुनियामें इससे बड़ा मेला नहीं होता और इतना पुराना भी शायद दूसरा मेला न हो। घूमने-घामनेसे आँख भी खुलेगी और उदासी भी कटेगी।

शामको श्रीकान्तके लौटनेपर सुनीताने कहा, "अबकी छुट्टियोंमे कहीं बाहर चलो।"

"जरूर चलो। बोलो, कहाँ चलना चाहिए? कहीं तीर्थ-यात्रापर चलोगी?"

उसने कहा, "कहीं चलो, तीर्थ ही चलो।"

छुट्टियाँ आनेपर वे चल दिए। जगह जगह घूमे। और सचमुच इससे इनके जीवनमें पूर्णता भी आ चली। इन्हें परस्पर हँसना-बोलना अब कठिन नहीं होता है। मिलकर परामर्श करते हैं, योजनाएँ बनाते हैं। दुनियामें बाहर आकर एकको दूसरेकी आवश्यकताकी क़ीमत लगती है। सयुक्तताका स्वाद घरसे बाहर मालूम होता है। घरमें जब एक सदा ही दूसरेके सामने उपस्थित रहता है, और जब उन्हें परस्परके अभावको अनुभव करनेका तनिक भी अवकाश नहीं होता, तब एककी दूसरेमें दिलचस्पी स्वभावतः फीकी-सी पड़ती जाती है। अब खुली दुनियामें आकर वह पग पग पर दोके एक हो रहनेकी महत्ताका अनुभव करते हैं।

५

अन्तमें कुम्भके अवसरपर उन्होंने अपनेको प्रयागमें पाया। एक मित्रके यहाँ ठहरे थे और रोज मेलेमें आ जाया करते थे।

एक रोज सवेरे ही दोनों सगम जानेके लिए नावोंपर सवार हुए। धीरे धीरे सवारियाँ पूरी हो गईं और नाव किनारेसे छूटी। लोगोंने भक्तिसे पुकारा, "जय गगे! मा गगे!!"

नौका दो-तीन गज धारामें बढ़ी होगी कि श्रीकान्तने देखा, प्रतिक्षण दूर होते हुए तटपरकी भीड़में हरिप्रसन्न खड़ा है! निश्चय हरिप्रसन्न। वह उन्हींकी तरफ देख रहा है। उसने ज़ोरसे कहना चाहा, "हरिप्रसन्न!" लेकिन किनारा दूर होता जाता था और अब उसका चिल्लाना मात्र उपहास्य ही होता। श्रीकान्त हरिप्रसन्नको आँख आगे देखता-भर रह गया, कुछ भी कर-धर न सका। जीकी आधी बात कहनेका भी अवसर नहीं पा सका। हरिप्रसन्न किनारेपर हर्षसे आँखे फाड़े खड़ा था। बड़े बड़े बाल थे। खद्दरका लम्बा सा कुरता पहन रहा था। पैरोंमें पता न चला कि क्या पहने है। श्रीकान्तने सोचा, क्या वह साधु हो गया

है ? हरिप्रसन्न साधु हो गया है ?

धीरे धीरे हरिप्रसन्नका चेहरा दृष्टिसे ओझल होता गया और भीड़की वह नदी ही कई धारा-उपधाराओंमे अविराम लहराती-उतराती दीखती रही। श्रीकान्त खो-सा गया। उसके इस खोए भावको देखकर पास बैठी सुनीताने कहा,

" क्या है ? "

श्रीकान्तने कहा, " किनारेकी भीड़में अभी हरिप्रसन्न था। "

" हरिप्रसन्न ! "

" हॉं, वहीं खड़ा था। मुझे डर है, वह साधू तो नहीं बन गया। "

कुछ देर रुक कर व्यस्त भावसे उसने कहा, " सुनीता, मैं तुमसे कहता हूँ, वह साधू नहीं बन सकेगा। देखो, विधिकी भी कैसी बात है। चौदह बरस बाद हम आमने सामने हैं, लेकिन मिल नहीं सकते, जीका एक भी सम्बोधन एक दूसरेके पास नहीं पहुँचा सकते। हम मिले, पर देखा तुमने, किस प्रकार मिले ? सुनीता, तुमने उसे देखा ? नहीं देखा। पर उसने तुम्हें जरूर देख पाया होगा। क्या वह जान सका, तुम कौन हो ? लेकिन वह साधू नहीं बन सकेगा, सुनीता, वह साधू नहीं बन सकेगा। "

अन्यमनस्क होकर सुनीताने कहा, " लौटकर फिर भी तो मिल सकता है। "

" हॉं, उसको देखना होगा। किन्तु इस अपार भीड़में वह मिलेगा ? "

सुनीता मन ही मन उस व्यक्तिको स्पष्ट करके समझना चाहती है जो विपदाओंको सामने रखकर उनमें भटकनेको बढ़ गया है, और आरामको किनारा ही देता रहा है। वह हरिप्रसन्नके बारेमें कुछ कुतूहल रखती है। और मन ही मन उसको कुछ सनकी भी समझती है। उसे अवश्य उसपर करुणा होगी, ऐसा वह समझती है। उसे लगता है, उस बेचारेको कोई भी नहीं मिली। लेकिन इस करुणाको वह अपने भीतर सँजोये रखती है।

सुनीताने कहा, " वह सबसे मुँह मोड़कर साधु बननेकी तरफ जाता है तब तुमको क्यों उसके बारेमें परेशान होना चाहिए ? "

श्रीकान्त बोला, " लेकिन वह किस तरह साधु बन सकता है ? मै उसे किस तरह साधु बनने दे सकता हूँ ? मैं उसका कौन हूँ, यह तुम पूछती हो ? तो मैं कहता हूँ, मै कोई नहीं हूँ। लेकिन मै अपना मालिक हूँ, और मेरी मरजी है, मैं उसको साधु नहीं बनने देना चाहता। तुमको नहीं मालूम, उसमें क्या क्या है ? और तुमको यह भी क्या मालूम है, साधुपनमे निरा रेत ही रेत है, पानी

कहीं भी नहीं है। हम-वह साथ रहे हैं। मैं नहीं कहता, ब्याह करना स्वर्ग पाना है, लेकिन मैं कहता हूँ कि जिसने विवाह जाना ही नहीं, और स्त्रीको झेला ही नहीं, वह साधु नहीं बन सकता। मुझे आश्चर्य है कि तुम हरिप्रसन्नके विषयमें अब तक इतनी उपेक्षा किस तरह रख सकी हो? तुमको मालूम होना चाहिए कि तुम्हारी ही राहसे मैं उसे दुनियामें लानेकी सोचता हूँ। तुम क्या यह जानती हो कि वह अकेला ही घूम रहा है? अकेला ही कर्म कर रहा है? लेकिन अकेले कुछ नहीं होता। अकेले मात्र भटका जाता है। और वह ऐसा आदमी भी नहीं है कि अपने जोरसे वह अपने लिए मूर्ति बना ले और उसके सहारे अपना अकेलापन सर्वथा नष्ट कर ले। वह भक्त नहीं है।"

सुनीताने हँसकर कहा, "अच्छा, अच्छा।"

"अच्छा अच्छा नहीं, हरिप्रसन्न इतना नजदीक है तो उसे खोना नहीं होगा। वह मिलना ही चाहिए और उसे पाकर नकेल पकड़कर उसे सीधी राह भी लगाना होगा। मैं तुम्हें और भी अपनी बात बतलाऊँ—उसके भटकते रहनेसे अपने बारेमें मेरा विश्वास शिथिल होता है। हरिप्रसन्नकी याद घुण्डीदार प्रश्नवाचक-सी बनी मेरे इस जीवनके आगे खड़ी हो जाती है। मानो पूछती है, 'तुम यह, श्रीकान्त, तुम यह? जब कि तुम्हीं देखो, मैं क्या हूँ।' मुझे अपने तमाम जीवनकी ओर हरिप्रसन्नकी याद सदेहसे सकेत करती दीख पड़ती है। मानों कुछ भीतरसे अँधेरा-सा उठकर तर्जनीकी नोक मेरे सामने करके पूछता रहता है—'ओ श्रीकान्त, यही मार्ग है? यही जीवन है?' इस सबसे मैं बच नहीं सकता। बचनेके लिए ही, मैं कहता हूँ, हरिप्रसन्नको पाना होगा और पाकर इस विस्मयबोधकको मिटाकर वहाँ जीवनके आगे निश्चयवाचक विराम-चिह्न ले आना होगा। मुझे देखना होगा कि हमारी सुनिश्चित और सुप्रतिष्ठित जीवन-नीतिको इस व्यक्तिकी याद विचलित नहीं करती। मैं परमार्थका कायल नहीं हूँ। कोई हरिप्रसन्नकी बड़ी कल्याण-कामनाके हेतु उसका हितू बनना चाहता हूँ, या उसका उद्धार करना चाहता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मुझे तो मेरा अपना हित ही इसमें दीखता है। जब जब उसकी याद सिर उठाती है, मुझे अपनी तरफ शका होती है, अपने औचित्यपर सन्देह होता है। .."

ऐसे मौकोंपर सुनीता अनायास ऊँची हो पड़ती है। उसने कहा, "लौटकर तुम, मैं कहती तो हूँ, उसकी तलाश करने जाना। नाहक पहलेसे फिक्र बाँधकर क्या होगा?"

श्रीकान्तने कहना चाहा कि सुनीताके लिए इस तरह बातको छोटी समझना ठीक नहीं है, लेकिन सुनीताने चर्चा इधर उधर कर दी और उसका ध्यान बँटा दिया।

सुनीता न चाहती थी कि हरिप्रसन्नको लेकर श्रीकान्त अपने शब्द व्यय करे। इस प्रकारके सब शब्दोंसे हरिप्रसन्न उसके निकट कुछ अधिक रहस्यमय, अधिक ओझल, अधिक दूर ही बनता था, स्पष्ट नहीं बनता था। और वह स्पष्ट मूर्त्त रूपमें उसे चाहती थी। उसके मनके लिए वह एक खिलौना, एक गोरखधन्धा बन गया था, जिसके साथ मन कभी कभी खेल सकता था। पर यह खिलौना धोखा भी दे जाता था, क्योंकि वह एक साथ भीतरसे ही अप्राप्य भी हो जाता था। उसको रूपरेखा—परिभाषा दे पाती थी। वह श्रीकान्तसे इस बारेमें बिल्कुल भी बात करना नहीं चाहती थी। वह अपनी जिज्ञासाको अपनेसे बाहर तक भी नहीं करना चाहती थी। फिर भी वह किसी तरह पा लेना चाहती थी कि इस हरिप्रसन्न नामके अनोखे बालक जीवके माँ भी है या नहीं? है, तो उस माँका वह क्या करता है? बहन है, या नहीं? बहन है, तो वह भाईको गँवाकर क्या करती है? और उसके अगर और भाई बधु हैं, तो वे कैसे हैं? अपनी कल्पनासे इन सब जिज्ञासाओंको पैदा करके वह इनका उत्तर बनाकर भी अपनेको दे लेती है: दो बहनें हैं, तीन भाई हैं, माँ बुढ़िया है, आदि। पर, वे ही उत्तर उसे कभी नितान्त अप्रामाणिक भी लगते हैं। और फिर जिज्ञासा पंख उठाती है: 'हरिप्रसन्नके भाई बहन हैं? इन सबको छोड़कर तब हरिप्रसन्न कहाँ है? और जहाँ है, वहाँ क्यों है? वह कैसे रहता है? और जैसे रहता है, वैसे क्यों रहता है?'

उसने अपने स्वामीसे कहा, "तुम उस आदमीके बारेमें बहुत व्यस्त रहते हो। तुमको मालूम है कि उसे तुम्हारी इतनी परवाह होगी, कि अपना ढँग और अपना स्थान छोड़कर वह तुम्हारी बातोंके पीछे चले?"

श्रीकान्तने कहा, "हाँ, होगी और होनी पड़ेगी।"

नाव सगमके किनारेके पास आ रही थी, तभी एकाएक सुनीताकी बाँह पकड़कर श्रीकान्तने कहा, "वह देखो, वह मालूम होता है!"

सुनीताने किनारेकी असख्य नर-नारियोंकी भीड़की तरफ देखा। वहाँ मनुष्योंकी असख्यताके अतिरिक्त और कुछ न चीन्ह पड़ता था। उसने कहा, "होगा तो होगा। आओ, पहले सगम नहा लो।"

६

लौटकर हरिप्रसन्नको पानेके लिए श्रीकान्त अपने डेरेसे चल दिया। किन्तु प्रयागके इस बड़े नगरमें और इस कुम्भके मेलेमें वह हरिप्रसन्न कहाँ मिलनेवाला है?

शहरमें यहाँ देखा, वहाँ देखा। जहाँ भी सम्भावना हो सकती वहाँ देख लिया। वह नहीं मिला, तब घूम-घामकर लौट आया और सुनीताको खबर दे दी कि हरिप्रसन्न नहीं मिला।

हरिप्रसन्नके लिए श्रीकान्त क्यों इस प्रकार व्यग्र हो? पर बात यह है कि श्रीकान्त जिस तरहकी जिन्दगीमें पड़ गया है, उसमें अब भी उसके पजे गड़े नहीं हैं। वहाँ वह अपनेको भूला भूला-सा पाता है,—अकेला, अमित्र, ऊपरी। सुनीता उसमें आ मिली है अवश्य, और दोनोंने एक घर बना लिया है, लेकिन, वह घर ही उन दोनोंके संयुक्त अस्तित्वको अपनेमें चुका डालता है। घरके काम-धन्धेकी बात हो, तो उसको लेकर दोनों मिल जाते हैं। वह न हो, तो फिर अपने अपनेमें बन्द अलग हो रहते हैं।

परन्तु हृदय सम्पूर्ण वृत्तकी भाँति हो तो शून्य हो जाय। उस हृदयको अपेक्षा रहती ही है कि कोई भिन्न पात्र मिले जिसमें वह अपनेको उँडेल सके। इस प्रकार वह रिक्त नहीं होता, और भरता ही है।

सुनीताने फिर भी सशक्त मन पाया है। सशक्त अर्थात् सृजनशील—कल्पनाशील। उस कल्पक स्वभावके सहारे वह अपनेको बिना खोले भी कुछ कुछ ताजा रख लेती है। समाज क्या, राष्ट्र क्या, नीति क्या,—ऐसे किसी तरहकी बातें करनेमें उसे पीछे रहना पड़े, सो नहीं, पर उन बातोंके अभावमें भी वह रह लेती है। इसलिए अयाचित श्रीकान्तके समक्ष होकर वह कभी अपनेको प्रगल्भ नहीं बनाती है। घरके काम-धन्धेकी बातको ही श्रीकान्त तक ले जाती है, और बाकी बातोंके लिए फिर अपनेमें हो रहती है।

श्रीकान्तको एक आधेय चाहिए। जीकी बातें किसके साझेमें हल्की की जाएँ? आकाक्षाएँ किसके साथ बातें करके पुष्ट की जाएँ? जिसके साथ गृहस्थी निबाहनेका काम आगया है, उसके साथ तो वही काम ठीक तरह निभा चला जाए, यह गनीमत है। लेकिन पुरुष गृहस्थीका पालनहार होकर ही अपनेमें तुष्ट-चित्त नहीं होता। उसे कुछ और चाहिए, समाज चाहिए, देश चाहिए, सुधार चाहिए, तोड़-फोड़ चाहिए। और इसके लिए गिरिस्तिन पत्नीके अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए।

जीवन बिताते बिताते अब तक उसे ऐसा और कोई भी नहीं मिला है। अब हरिप्रसन्नको पाससे देखकर उसमें यह अभाव, यह माँग उत्सुक होकर उठ आई है। इसीसे वह प्रयागमें, जैसे भी हो, हरिप्रसन्नको पा लेना चाहता है।

दूसरे दिन खोज करते करते एक स्थानपर अता-पता मिला। तब शाम हो गई

थी और वह स्थान वहाँसे पाँच मील था। तब तो जाना न हुआ, पर उस रातको वह प्रसन्न होकर सोया। उसने सोचा था कि सवेरे ही वह उस स्थानपर जायगा। सुनीताको भी उसने यह खबर सुना दी थी।

सवेरे वहाँ पहुँचा तो मालूम हुआ, हरिप्रसन्न उसी सात बजेकी एक्सप्रेससे देहली चल दिया है!

सात बजेकी एक्सप्रेससे देहली गया है! अरे, देहली? घडीमें कुछ समय था और तुरन्त वह स्टेशनपर भागा। पर प्लेटफॉर्मपर पहुँचता है कि गाडी छूट गई। वह लौट आया।

आकर जब उसने सुनीतासे कहा कि इस तरह हरिप्रसन्न मिलकर भी नहीं मिल पाया, और कल वह देहलीमें होगा, तब पहली बार सुनीताने विस्मय प्रकट किया। हरिप्रसन्न उसी देहलीमें होगा जिसमें उनका घर है, यह एकदम उसके चित्तको अचिन्तनीय जान पडा।

वह दिल्लीमें ही होगा, परन्तु उसके पा लेनेका भी वहाँ कोई उपाय उनके हाथमें नहीं होगा—इसको पाकर और भी सुनीताको विस्मय होता है।

श्रीकान्तने कहा, "हम कितने दिन और यहाँ हैं?"

सुनीताने कहा, "मेला तो देख ही लिया। त्रिवेणी-स्नान हो गया, अब ठहरनेकी और जरूरत ही क्या है?"

श्रीकान्तने कहा, "तुम तो सक्रान्ति स्नान भी देखना चाहती थीं? लेकिन यह ठीक है, उसमें क्या धरा है? तो कल ही चलें?"

"हाँ, चलो।"

७

दिल्ली आकर श्रीकान्तने हरिप्रसन्नको खोजा। पर इस दिल्लीमें हरिप्रसन्नकी टोह ढूँढे न पाई। श्रीकान्त सोचता, ऐसी वह कौन-सी बात है जो हरिप्रसन्नसे बाहर है? वह देखता, कि सच बहुत ही कम बातें हैं जो हरिप्रसन्नसे बाहर समझी जा सकती हैं। साधु वह हो सकता है, क्रान्तिकारी वह हो सकता है, दूकानदार, मुनीम, फोटोग्राफर, जर्नलिस्ट—सभी कुछ वह हो सकता है। दूकानके लिए रुपया चाहिए, जरूर, पर पैसोंको लेकर कहीं बैठ जाना और उनके रुपए बनाना शुरू कर देना, यह भी बात उसके बगसे बाहर नहीं जान पड़ती। और नहीं तो वह अध्यापक भी हो सकता है। ऐसा आदमी जो एक-सी उद्यतता और योग्यताके

साथ इन धन्धोंमेंसे किसीमें भी जा बैठ सकता है, वह कैसे पा लिया जाय ? और इसीका क्या ठिकाना है कि वह किसी धन्धेमें पड़ ही गया होगा ? निर्धन्धा, फक्कड, मधुकरी पालकर रहते जाना भी क्या उसकी योग्यतासे बाहर है ? तब उसे कहाँ पहुँचकर पाया जाय ?

श्रीकान्त अपने काममें पड गया और दिन चलते जाने लगे। बाहरसे घूम-घामकर जो परस्परकी दाम्पत्य परिचिति और घरेलू ताजगी वे अपने साथ ले आए थे, इस घरके बँधे सपाट जीवनमें शनैः शनैः फिर चुकने लगी। सुनीता पहले जैसी अज्ञात, अथवा अतिशयतापूर्वक ज्ञात हो पडने लगी और श्रीकान्त भी अपनेमें समाए और बन्द दीखने लगे।

श्रीकान्त जलसों-कॉन्फ्रेंसोंका कायल नहीं है। लेकिन सिनेमा-घरोंसे इन्हें अच्छा समझ लेता है। वह कॉन्फ्रेंसोंमें चला जाता है, और उनके सहारे अपनेमें कुछ जोश भी लानेकी चेष्टा करता है। सुनीता घरमें ही रही आती है। श्रीकान्त जब कभी ऐसी जगह जाता है, तब अनिवार्य रूपमें पूछ लेता है, ‘चलेगी ?’ अब भी उसने पूछा, “चलेगी ?”

सुनीताने अनजान बनकर पूछा, “कहाँ ?”

और जब श्रीकान्तने बतला दिया कि अमुक जल्सेमें, तब उसने श्रीकान्तकी ओर देखकर कहा, “मैं वहाँ क्या करूँगी ?”

श्रीकान्तने कहा, “अच्छी बात है।”

सुनीता आगे कुछ न बोलकर कुछ न कुछ उठाने-धरनेमें लग गई।

श्रीकान्त इस भावसे कि ‘ठीक तो है, वहाँ जानेमें क्या रखा है ?’ चल दिया।

और सुनीता भी मन-मनमें दुहराती हुई ‘ठीक तो है, वहाँ जानेमें क्या रक्खा है ?’ द्विगुणित वेगपूर्वक काम करने लगी।

किन्तु उस रोज अनायास मिल गया श्रीकान्तको हरिप्रसन्न। कॉन्फ्रेंसके बाहर वह निरुद्देश्य घूम रहा था। उसी समय पीछेसे किसीने कन्धेपर हाथ रखकर कहा, “श्रीकान्त !”

घूमकर जो देखे तो हरिप्रसन्न !

वह विस्मयमें डूबा खड़ाका खड़ा रह गया, कुछ बोल न सका। हरिप्रसन्नके बड़े बड़े बाल थे। दाढी भी उग रही थी। खद्दरका एक लम्बा कुरता था, गलेमें चादर, ऊँची धोती और चप्पल।

उसने कहा, "श्रीकान्त, मुझे पहचानते नहीं क्या? सहमेसे दीखते हो। मैं ही हूँ हरिप्रसन्न। इलाहाबादमें दीखे थे, फिर तुम्हारा पता न चला। तुम यहीं रहते हो, दिल्ली? क्या करते-धरते हो?.."

श्रीकान्त अब भी देख रहा था। वह देख रहा था कि यह हरिप्रसन्नका क्या हुलिया है कि वह बोलता ही जाता है, और अपने साथ कुछ भी गड़बड़ नहीं देखता!

"...मैं समझता हूँ, वकील होगे। शायद कहीं कुछ ऐसा सुन भी पडा था। .. तो वकील हो? ठीक। पढना जिसने पकडा, वह न नौकरीपर पहुँचा, वकालत पर पहुँचा।—यहाँ क्या खडे हो, आओ चलें।"

श्रीकान्तने कहा—चलें? कहाँ चलोगे?

"क्यों, तुम वकालत करते हो, तुम्हारे घर चलेंगे। अब अकेले तो नहीं हो न? और मुझे तुमसे काम भी है।"

हरिप्रसन्न श्रीकान्तको बाँहमें हाथ डालकर ले चला।

"..मैं यहाँ काफी दिनोंसे आ गया हूँ। एक महीना हो गया होगा। पर, इस पाँच लाखके शहरमें, जहाँ वाइसराय भी रहता है और किलेके किले खडे हैं, मेरा ठौर-ठिकाना बननेमे नहीं आया है। और ऐसा भी कोई आदमी नहीं दीखा जिसे मेरी जरूरत हो। गर्ज़मन्द सब हैं, पर किसीकी गर्ज मेरी राह नहीं आई।"

श्रीकान्तने कहा, "तो फिर पहले मेरे घर कैसे चलना होगा? तुम्हारा सामान कहाँ पड़ा है? उसे ले लें, तब घर चलेंगे।"

"सामान! ऐसा बहुत सामान नहीं है और एक मन्दिरमें रखा है। लेकिन सामानके साथ चलूँगा? तो क्या तुम्हारा यह मतलब कि मैं तुम्हारे घर रहूँगा? नहीं श्रीकान्त, रहना तो मुझे अपने आप है।"

श्रीकान्तने विस्मयसे कहा, "क्या तुम घर नहीं रहोगे?"

"तुम्हारे घर कैसे रहूँगा?"

"कैसे रहोगे? इसका मतलब?"

हरिप्रसन्नने श्रीकान्तकी ओर देखकर कहा, "देखो, मैं शायद घरके लिए नहीं बना हूँ, मैं घरके लायक नहीं हूँ। इसलिए यह जिद न करो कि मैं घर चलूँ।"

श्रीकान्तने कहा, "मैं फिजूल बात नहीं सुनना चाहता। चलो, कहाँ है तुम्हारा सामान?"

हरिप्रसन्नने कहा, "अच्छा, अभी तो ठहरो। देखो भाई, तुम्हारा घर तुम्हारा ही नहीं है। एक और भी हैं जिनका है। तुमने कैसे समझा, तुम अकेलेको किसी अजनबीको घरमें बुलानेका हक है? उनसे अनुमति लो, वह भी मुझे कहें, तभी तो मैं इस बारेमें सोच सकता हूँ। और मैं, तुम जानते हो, रमता राम हूँ। घरमें बैठना मेरे नसीबमें नहीं है।"

श्रीकान्तने कहा, "वाहियात मत बको। वह तुमको जानती हैं। न जानतीं तो भी क्या। चलो, सामान लो और चलो।"

हरिप्रसन्नने हँसकर कहा, "ऐसे नहीं, ऐसे नहीं। और सबसे पहली बात तो तुम्हारे लिए यह जानना है कि मेरे पास पाँच आने बचे हैं। पाँच आनों पर, बताओ, भविष्यको कैसे खड़ा करना होगा? और मैं बातों बातोंमें यह भी नहीं जान सका कि मैं तुमसे कुछ रुपये भी माँग सकता हूँ या नहीं?"

श्रीकान्तने विस्मयपूर्वक हरिप्रसन्नको देखकर कहा, "मैं न मिलता तो इन पाँच आनोंपर तुम क्या क्या करनेवाले थे?"

"मुझे नहीं मालूम।"

"अब क्या करोगे?"

"कई रोजसे इसीका हिसाब लगा रहा हूँ। राजनीतिमे जो तूफान आया था, वह बीत गया। तब आवारापन स्पृहणीय था। साहसका मूल्य था। ज्वार उतर जानेपर यह जो भाटा आया है, इसमें वस्तुओंका मूल्य बदल गया है। अब आदमी दुनियादारीमें भारी-भरकम चाहिए और पैसेसे पुष्ट चाहिए। तब राष्ट्रकी राजनीति उसे पहचाने। मै वस्तुओंके इन प्रचलित मूल्योंका कायल नहीं हूँ। पैसेवाला क्यों बना जाय? आप पैसेवाला होना दस औरको उससे वञ्चित रखना है। और यदि कोई पैसेवाला बनता है, तो मेरा खयाल है, इस कारण उसे बल्कि निम्न समझना चाहिए। लेकिन वस्तुओंकी बाजार-दरको न मानकर मैंने अपने लिए लाचारी खडी कर ली है कि मैं उखड़ा उखडा रहूँ। जिनको निम्न कहा जाता है उनसे अपनेको तोड़कर मैं भद्रवर्गीय बनूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं। तब क्या हो? . जिन्दगी ऐसी चीज़ बन गई है कि बिना पैसेके नहीं चलती। गाय-भैंसोंका दूध लेकर नहीं पी सकते, जब तक कि वे अपनी न हो, पेड़का फल और खेतका शाक नहीं ले सकते, जब तक वे अपने न हों, कहीं जाना हो तो रेलमें बैठकर नहीं जा सकते, जब तक टिकट न हो। इन सबके लिए फिर पैसा चाहिए। वह पैसा टकसालमें ठुकता है या सरकारी छापेखानेमें

छपता है। यह पैसेकी सस्था बडी पेचीदा हो गई है। अनुत्पादक चालाकियोंसे सोनेका ढेर बन जाता है, उत्पादक ठोस मेहनत करनेपर ताँबेके पैसोंका भी भरोसा नहीं बनता। अब खराबी क्या है? खराबी उन खयाली कीमतोंमें है जो हमने चीजोंको दे रखी हैं। हमारा समाज-शास्त्र, हमारा अर्थ-शास्त्र, हमारा नीति-शास्त्र और हमारा धर्म-शास्त्र सब उन कीमतोंको मानकर चलते और उनको मजबूत बनाते हैं। हमे उनमें एकदम परिवर्तन लाना होगा। पैरोंतले जो हैं वे ऊपर दीखेंगे, सिर-चढे धरती चूमेंगे।··तब मैं क्या करना विचारता हूँ, यह तुम पूछते हो? मैं पहले कुछ रुपये तुमसे पाना चाहता हूँ। फिर कहीं पच्चीस-तीस रुपये माहवारका ठीक-ठिकाना बनाना चाहता हूँ। चार वर्ष मैंने इस परीक्षणमे दिये हैं कि बिना पैसे जीवन सम्भव हो। मैंने पाया है, वह सम्भव नहीं होता। हाँ, इस तरह सम्भव होता है कि तुम स्वय पैसेसे दूर रहो, लेकिन पैसेवाला कोई तुम्हारा भक्त हो। या बिना पैसे जीवन इस तरह भी सम्भव होता है कि स्वयं पैसा न बनाओ, पर किसी पैसेवालेके तुम भक्त हो जाओ। गाँधी पहली तरहका आदमी है, चाटुकार दूसरी तरहके। दोनों बे-पैसे सुखी रहते हैं। इसलिये मुझे तीस-चालीस, जितने मासिकका हो, सुभीता कर लेना चाहिये। हाँ, उसकी हद है, उससे ज्यादा मैं नहीं ले सकता। अब, उन रुपयोंके लिये ठीक क्या काम पकडना होगा, यह मैं अभी नहीं जान सका।"

श्रीकान्त चुपचाप सुनता रहा। उसने कहा, "हम भी यही सोचते हैं,—मैं और वह, कि तुमको भटकना छोड़कर जमना चाहिए। एक जगह रहो, कुछ कमाओ, घर बसाओ, और इज़्ज़तदार आदमीकी तरह रहो। ज़बरदस्ती नया रास्ता बनानेके पीछे पड़नेमें क्या रखा है?"

हरिप्रसन्नने कुछ आवेशके साथ कहा, "'कुछ कमाओ, घर बैठो, बाल बच्चे जनो! आज और कलके बीचमें नपे हुए और दबे हुए रहो!...यही है? क्यों श्रीकान्त, यही सब कुछ है?"

श्रीकान्तने कहा, "मैं नहीं जानता, तुम किसको सब कुछ समझते हो। लेकिन, जो कुछ भी समझते हो वह करो और तीस रुपया माहवार तक, जब तक चाहे, मुझसे लिये जाओ।"

हरिप्रसन्नने कहा, "नहीं, नही, नहीं! वह जिन्दगी नहीं है जिसमें चारों तरफ़ दीवारें खड़ी करके हम विश्वके बीचों-बीच अपना पक्का घर बनाकर अपनेको क़ैद कर लेते हैं। विश्वके जीवित सम्पर्कमे रहना होगा। आज और कलके बीचमें बन्द हम

तुम्हें इण्ट्रोडक्शनकी जरूरत न होगी ।"

हरिप्रसन्न चुपचाप ही रह गया । उसे स्त्रियोंसे कुछ दूर-दूरसे ही वास्ता पड़ा है । वह उनसे कुछ डरता-सा है । स्त्रियोंसे वह मिला है, किन्तु स्वय वह पुरुष है जब कि वे स्त्री हैं, इस भाँति नहीं मिला । वे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता थीं, यह भी राष्ट्रकर्मी था, सभामें कहीं वह वक्ता थीं, यह भी वक्ता था, इसी भाँति सभा-समाज-नगरमें वे भी थीं, यह भी था । जैसे दो नागरिक मिले हों, ऐसे ही वह स्त्रियोंसे मिला था । वह निजमें उनका कुछ है, इस भावनापूर्वक स्त्रियोंके प्रति बढ़नेका उसे अवसर नहीं आया था । निस्सन्देह अतीत जीवनमें कइयोंके साथ उसके सम्बन्ध घने होते गये हैं, और उनमें कुछ मिठास भी उठा-सा है, फिर भी अन्त तक वह उन सबमें अपनेको 'इम्पर्सनल' ही रखता आया है । स्त्रियाँ उसके लिए सब 'बहिनजी' और उन सबके लिए वह स्वयं 'भाईजी' रहा है । यहाँतक कि 'बहिनजी और भाईजी'से आगे होकर वह कभी 'बहिन-भाई' भी नहीं बना है । जिसको कह दे 'तू' या जिसको 'तुम' सम्बोधन भी कर सके, ऐसी निकट, ऐसी अपनी एक भी उसकी नहीं हो पाई है । स्त्रियोंके लिए
ए 'आप' ही कहता आया है । अब यह श्रीकान्तने उस भाभीका जो जिक्र
दिया है, वह क्या 'आप' है ? वह क्या 'आप' ही रहनेवाली है ? वह
सकी भाभी है । उससे अनपेक्षित, मात्र उसके प्रति महिला-रूपमें विराजने-
कोई वह नहीं है । वह तो भाभी है, जिसके (भाभी) होनेसे ही आदमी-
र बन जाना होता है । एक दूसरेके लिए वे दो सज्जन और महिला नहीं
और भाभी हैं । तब सज्जनोंके बीचमें काम देनेवाला 'आप' क्या
भाभीके बीचमें भी ठीक बैठेगा ? हरिप्रसन्न यह सोचता जाता है और
है, वह भाभी कैसी है ? और मुझे किस प्रकार देवर बनना होगा ?
क्या है ?

कहा, "हरि, तुम क्या उनकी बातकी भी ऐसी ही कदर करोगे
है ? वह नहीं पसन्द करेंगी कि तुम दिल्ली शहरमें पैंतीस-
घर लेकर रहो ।"

छ ठीक तरह समझमें नहीं आया कि कौन भाभी हैं, जिनको
के बारेमें कहनेको कुछ हो सकता है ! यह सारी बात वह
ा ही नहीं सका ।

ऐसा क्यों कहेंगी ?"

जितना छोटा है, उसे तुम उतना छोटा अभी समझते हो। या जितनेका वह प्रतिनिधि है, उतने मूल्यकी ठीक आँक तुम्हें है। हरिप्रसन्न, जब तुम कह सकते हो कि मेरे पास जो अतिरिक्त रुपया है वह मेरा नहीं है, भूखेका है, तब तुम मेरे पाससे लेकर किस तरह अपनेको अहसानमन्द मान सकते हो? अगर तीस रुपए लेकर तुम अहसानका बोझ अपने ऊपर अनुभव किए बगैर नहीं रह सकते तो आगे और क्या करोगे? मेरी ज़रूरतसे जब तीस रुपया अतिरिक्त हैं, और तुम्हें उनकी बेहद ज़रूरत है, तब साधारण न्यायसे वह रुपया मुझसे अधिक तुम्हारा हो जाता है। पैसा, न्याय यदि ईश्वरीय हो, तो धनिकसे अधिक भूखेका है। इसमें बीचमें अहसानकी या काम करके उस अहसानको उतार देनेकी बात कहाँ आती है?"

हरिप्रसन्न सोचमें पड़ गया। उसने कहा, "श्रीकान्त, यह तुम क्या कहते हो? व्यवहार व्यवहार है।"

श्रीकान्त—तो फिर तुम सीधी तरह व्यवहारी क्यों नहीं बनते?

हरिप्रसन्न—नहीं नहीं, श्रीकान्त, मेरा निश्चय ठीक है। पैसा चीज खराब है-उसका देन-लेन परस्पर मनमें मुटाव पैदा कर देता है। जिसमें तनाव न हो, वैसा लेन-देन ही ठीक है। वैसे लेने-देनेको फिर सौदा कह सकते हैं। पैसा कोई क्यो दे, जब तक ठीक एवज वह पाए नहीं?

यह सुनकर श्रीकान्तका सुख कम होने लगा। वह हरिप्रसन्नमें व्यवहार-बुद्धि न देखना चाहता था।

व्यवहारी लोग क्या दुनियामें कम हैं? हरिप्रसन्न उनमें एक गिनती और बढ़ाए इससे दुनियाका क्या भला हो जानेवाला है? उसने कहा, "हरि, तुम जो ठीक समझो। अपने मनपर बोझ डालकर तो सचमुच किसीसे पैसा लेना बिल्कुल ठीक नहीं है। लेकिन हरि, पैसा कब इस लायक है कि उसको देकर आदमी अपनेको दानी माने, या उसे लेकर कोई अपनेको दीन समझे? जरूरत पैसेको इधर उधर करती है। जरूरतोंको रफा करनेके लिए ही वह है। इससे आगे उसका महत्त्व नहीं है, महत्त्व मत दो ··इधर आओ, इधर···" यह कहकर सीधे जाते हुए हरिप्रसन्नको श्रीकान्तने ठीक सड़कपर मोड़ा।

घर पास आ चला था और पिछला सिलसिला तोड़कर श्रीकान्तने कहा, "तुम जबलपुरसे कब आ गये? कहाँ कहाँ रहे? हमने तुम्हे एक ख़त भेजा, वह वापिस आ गया। तुम्हारी भाभीकी तस्वीर भी उसमें थी। वह तुम्हें खूब जानती हैं।

तुम्हें इण्ट्रोडक्शनकी जरूरत न होगी।"

हरिप्रसन्न चुपचाप ही रह गया। उसे स्त्रियोंसे कुछ दूर-दूरसे ही वास्ता पड़ा है। वह उनसे कुछ डरता-सा है। स्त्रियोंसे वह मिला है, किन्तु स्वय वह पुरुष है जब कि वे स्त्री हैं, इस भाँति नहीं मिला। वे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता थीं, यह भी राष्ट्रकर्मी था, सभामें कहीं वह वक्ता थीं, यह भी वक्ता था, इसी भाँति सभा-समाज-नगरमें वे भी थीं, यह भी था। जैसे दो नागरिक मिले हों, ऐसे ही वह स्त्रियोंसे मिला था। वह निजमें उनका कुछ है, इस भावनापूर्वक स्त्रियोंके प्रति बढ़नेका उसे अवसर नहीं आया था। निस्सन्देह अतीत जीवनमें कइयोंके साथ उसके सम्बन्ध घने होते गये हैं, और उनमें कुछ मिठास भी उठा-सा है, फिर भी अन्त तक वह उन सबमें अपनेको 'इम्पर्सनल' ही रखता आया है। स्त्रियाँ उसके लिए सब 'बहिनजी' और उन सबके लिए वह स्वय 'भाईजी' रहा है। यहाँतक कि 'बहिनजी और भाईजी'से आगे होकर वह कभी 'बहिन-भाई' भी नहीं बना है। जिसको कह दे 'तू' या जिसको 'तुम' सम्बोधन भी कर सके, ऐसी निकट, ऐसी अपनी एक भी उसकी नहीं हो पाई है। स्त्रियोंके लिए वह 'आप' ही कहता आया है। अब यह श्रीकान्तने उस भाभीका जो जिक्र चला दिया है, वह क्या 'आप' है? वह क्या 'आप' ही रहनेवाली है? वह तो उसकी भाभी है। उससे अनपेक्षित, मात्र उसके प्रति महिला-रूपमें विराजने-वाली कोई वह नहीं है। वह तो भाभी है, जिसके (भाभी) होनेसे ही आदमी-को देवर बन जाना होता है। एक दूसरेके लिए वे दो सज्जन और महिला नहीं हैं, वे देवर और भाभी हैं। तब सज्जनोंके बीचमें काम देनेवाला 'आप' क्या देवर और भाभीके बीचमें भी ठीक बैठेगा? हरिप्रसन्न यह सोचता जाता है और देखता जाता है, वह भाभी कैसी है? और मुझे किस प्रकार देवर बनना होगा? यह भाभी-देवरपन क्या है?

श्रीकान्तने जब कहा, "हरि, तुम क्या उनकी बातकी भी ऐसी ही कदर करोगे जैसी मेरी बातकी की है? वह नहीं पसन्द करेंगी कि तुम दिल्ली शहरमें पैंतीस-चालीस रुपएके ऊपर अलग घर लेकर रहो।"

तब हरिप्रसन्नकी कुछ ठीक तरह समझमें नहीं आया कि कौन भाभी हैं, जिनको मेरे अलग रहने न रहनेके बारेमें कहनेको कुछ हो सकता है! यह सारी बात वह हृदयमे पूरी तरह बैठा ही नहीं सका।

उसने कहा, "वह ऐसा क्यों कहेंगी?"

श्रीकान्तने कहा, "वह ऐसा क्यों कहेंगीं ?—इसका कारण मैं सिवाय इसके और क्या दे सकता हूँ कि वह तुम्हारी भाभी हैं।"

हरिप्रसन्न चुप हो गया। उसको चुप कम चीजें करती हैं। लेकिन इस तरह उसके परिचयमें भाभी बनकर आनेवाली एक नारीका परोक्ष प्रवेश ऐसी ही चीज़ है।

जब एक ज़ीनेके आगे आकर रुककर श्रीकान्तने फैले पडे एक काले घुँघराले कुत्तेको सीटी बजाकर 'ब्लैकी! ब्लैकी!!' कहा और वह उनके पैरोंमें मुँह और पूँछको एक साथ ही लपेटनेकी चेष्टा करने लगा तब हरिप्रसन्नका जी धडक रहा था।

श्रीकान्तने कहा, "चलो।"

हरिप्रसन्नने कहा, "चलो न।"

श्रीकान्तने हँसकर कहा, "आगे चलो।"

हरिप्रसन्नने कहा, "ओह, चलो भी।"

और हरिप्रसन्न श्रीकान्तके पीछे पीछे उस जीनेपर चढ़ गया।

८

सुनीता बेकाम स्टडी-रूमको साफ करनेमें लगी है। सोचती जाती है कि देखो, मैं अपने बारेमें ही सोचा करती हूँ, यह नहीं कि रोज झाड-बुहारकर सब कमरे ठीक रक्खा करूँ। यह उनकी बात क्या झूठ है कि स्त्रीको अपने घरमें ही बहुत कुछ है, बाहर दुनियामें वह क्या पाने जाय ? घरमें क्या नहीं है ? इससे बे-वक्त सुनीता ऊँचे स्टूलपर खड़ी होकर छतके जाले झाड़ूसे साफ कर रही है। इसके बाद अलमारियोंकी सुध लेगी। उन्हे तेलके कपड़ेसे पोंछना होगा, और शीशोंकी गर्द हटाकर उन्हें चमका देना होगा। वह आज इस कमरेको बिलकुल नया पायेंगे।

सिरपरसे साडी हट गई है। एकाध तिनका-जाला बालोंमें उलझ गया है। किसी रागका भूला-सा पद गुनगुना रही है। काममें वेग और उल्लास है। इस तरहके काम हाथमें लेकर जैसे उसका जी निखर आता है। नहीं तो खाली वक्तमें उसपर काई-सी छा जाती है। और तब उसे ऐसा लगता है कि यह दरवाजेके बाहरसे ही शुरू होकर जो अगणनीय अवकाश तक चित्र-विचित्र दुनिया फैली है, यह क्या इसलिए है कि उसकी तरफसे पीठ फेरकर हम घरमें ही रह जायँ ? क्या हमारा-उसका परस्पर कोई सरोकार नहीं है ? सरोकार क्या नहीं होना चाहिए ? यह सब कुछ इस तरहके काम हाथमें लेकर दूर हो जाता है, और

मनको अभावका पता नहीं चलता।

बुहारीको बाँसमें लगाकर वह मकड़ियोंके जालेमें दे दे मार रही है। ये मकड़ियाँ इतनी जाने कहाँसे पैदा होकर आ जाती हैं! महीना तो हुआ नहीं कि सब साफ किया ही था। और जरा-सी तो होती हैं, जाने इतना सारा जाला अपने पेटसे कहाँसे निकाल लेती हैं। वह भागी! कितनी बड़ी है, शिः, कैसी लगती है! और एकाध फुट मकड़ीको भागने देकर सुनीताने अपनी झाड़ू जोरसे उसपर मारी। छः बड़ी बड़ी टाँगोंसे अपनेको बचाकर भागी जाती हुई मकड़ीको देखकर उसके जीमें जाने कैसी घिन हो रही थी। मारना उसे असह्य था। पर जैसे वह मकड़ी अपनी घिनौनी टाँगोंसे उसके कलेजे परसे भागी जा रही हो, इस भाँति, न मारना और भी असह्य था। सो, जाने किस तरह जोरके हाथसे झाड़ू मकड़ीपर उठ गई, और मकड़ीकी देह सींकोंकी नोकोंपर लिपटी रह गई। इसपर उसके मनमें मितली-सी होने लगी। झाड़ू छोड़कर वह स्टूलसे उतरी। उतरते उतरते साड़ीका छूटा पल्ला स्टूलकी एक कीलमें उलझ गया। उसने जोरसे खींचकर वह पल्ला छुड़ा लिया जिसमें साड़ी जरा फट भी गई। एक फेंट देकर उसे कमरमें कस लिया। इस व्याघातसे उसके मनकी ग्लानि सहसा ही उड़ गई। वह फिर कामपर आ डटनेको हुई। अब उसका रूप सन्नद्ध लगता था। कमरपर कसी धोतीका फेंटा जैसे कहता था कि कोई अवश्य परास्त होगा। सुनीता इस समय बड़ी मनोमुग्धकर जान पड़ती थी। कामकी लाली थी, शेष विश्वके प्रति अनजान लापर्वाही, खुला सिर, अस्त-व्यस्त बाल——

एक कोना और बाकी है। फिर तो दीवारें हुई, और अलमारियाँ रह जाएँगी। कोनेमें टिके झाड़ूवाले बाँसको उसने उठाया ..

इतनेमें हरिप्रसन्नके साथ श्रीकान्तने उस कमरेमें प्रवेश किया।

९

हरिप्रसन्नने स्त्रियोंको कम देखा है? नहीं, कम नहीं देखा है। कम सुन्दर स्त्रियोंको देखा है? नहीं, अतीव सौन्दर्य-शालिनियोंको भी देखा है। किन्तु सबको ठीक ठीक अपेक्षणीय रूपमें ही देखा है। 'हाँ, मैं तैयार हूँ' वेश-भूषाकी ओरसे जब वे इस स्थितिमें रही हैं, तभी हरिप्रसन्न उनके साथ मिला, बोला, अथवा हँसा है। 'अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूँ!' स्त्रीकी ऐसी हालतमे तो उसके सामने वह कभी नहीं पड़ पाया है। हरिप्रसन्न आते आते दहलीजके बाहर

अनायास ठिठक कर रह गया। उसने सुनीता भाभीको अभी नहीं देखा, एक स्त्री-आकृतिको देखा है। और वह समझ सका है—स्त्री अपनेको अनभीष्ट अवस्थामें पा रही है।

श्रीकान्तने बिना पीछेकी ओर देखे कहा, " हरि, चले आओ। "

सुनीता श्रीकान्तके साथ किसी औरको भी आते पाकर जल्दीमें इतना ही कर सकी थी कि झाड़ू-बँधे बाँसको कोनेमे टिका दे, और फिर खोई-सी रह गई थी। जब उसने सुना ' हरि, चले आओ,' तब वह और भी खो गई।

हरिप्रसन्न एक बार सुनीताको देख लेकर नीची निगाहसे कमरेमें चलता चला आया और जब कुर्सी उसकी टाँगोंमे लगी, तब उसपर बैठ गया।

सुनीताने इतनेमें धोतीकी फेंट खोल ली थी और सिरपर पल्ला ले लिया था। रास्ता साफ होनेकी बाट देख रही थी। जिस दरवाज़ेसे ये लोग आए हैं, उसीमें-से तो उसे जाना होगा। दोनोंके कमरेमें आ चुकते ही सुनीता उससे बाहर हो जानेको बढी।

श्रीकान्त अभी खडा ही था, उसने उस बाँसकी ओर बढ़ते हुए कहा, "क्यों, सब साफ हो गया ?—अभी तो वह कोना बचा है ? " यह कहते हुए जैसे वह हँसी रोक रहा हो। उसे अनुभव हुआ कि इधर दो-तीन वर्षोंसे इतने सहज रूपमें सुनीतासे वह एक भी बात शायद ही कभी कह पाया है।

सुनीता श्रीकान्तके इस खुले प्रसन्न स्वरपर खुश हुई। लेकिन वह सुनेगी नहीं, चली ही जायगी। छिः छिः, धोती कमरसे बाँधे जोधा बनी वह कैसी दीखती होगी ! नहीं, वह सुनेगी नहीं, चली ही जायगी।

श्रीकान्तने फिर कहा, " ठहरो, जाती कहाँ हो ? पूरा अभी साफ़ कहाँ हुआ है ?—और यह हरिप्रसन्न हैं। "

सुनीता असमंजस-सेमें पड़ी तुरन्त चली भी न जा सकी।

इतनेमें श्रीकान्त वह झाड़ूका बाँस ले आकर देते हुए बोला—"लो, उस कोनेको भी खतम कर डालो। "

" भला देखो इन्हें ! " सुनीता बिना कहे यह कहकर साड़ीके पल्लेको माथेके आगे ज़रा सरकाकर कमरेके बाहर हो गई।

१०

श्रीकान्त भी हरिप्रसन्नके पास कुर्सीपर आ बैठा। हरिप्रसन्न कमरेको देख रहा

था। एक साथ कमरे-भरको मानो वह पाना चाहता था। कमरेकी कोई चीज उसकी निगाहमें न थी, यद्यपि उसकी आँखें किसी विशेष दिशामे गड़ी मालूम होती थीं। उन आँखोंकी दृष्टि बीचके शून्य अवकाशमें ही रह जाती थी, उसको पारकर किसी रूप-स्पर्श-गन्धमय वस्तु तक नहीं पहुँच पाती थी। मानो वह वहाँ उस कमरेके भीतरके रिक्तमें उस कमरेकी आत्माको चीन्ह रहा था।

उसने मकान देखे हैं। बड़ी बड़ी इमारतोंमें जाकर-रहकर वह अछूता रहा है, विलग, स्वस्थ। कमरेमें छत है, फ़र्श है, दर्वाजे खिड़कियाँ और सामान है। कमरा और क्या होता है? मकान और क्या होता है? मकानके साथ सम्बन्ध सदा उसका 'डेरे' का रहता है। दो रोज बसेरा, और कूच। ये सब पदार्थ हैं जो आदमीने बना लिये हैं, सबकी आयु है, और सब बिखर रहेंगे। लेकिन यहाँ बैठा-बैठा तो वह जैसे इस कमरेके रिक्तमें भरे किसी जीवित भावके साथ मिला जा रहा है,–घुला जा रहा है।—कुछ घर भी होता है जो मकान नहीं है, न डेरेकी भाँति जिसमें रहा जाता है। परिवारकी आशा-आकाक्षा, सुख-दुख, विश्वास-विग्रह जिसके सरक्षणमें,—जिसके अकमें शिशुवत् खेलते और पलते हैं, जो मौन अप्रत्याशी उनका साक्षी है, अधिष्ठाता है। हरिप्रसन्न मानो वहीं है, वह 'घर'में है और उस घरकी आत्माको जैसे हर श्वास और प्रश्वासके साथ अपने भीतरके स्पर्शमें लेकर वह जाने कैसा हो रहा है।

श्रीकान्तने पूछा, "हरिप्रसन्न, क्या खाओगे? हम दिनमें खा लेते हैं। तुम्हारे खानेका क्या समय है?"

हरिप्रसन्नने श्रीकान्तकी ओर मुड़कर कहा, "मेरा कोई समय नहीं है और कोई आग्रह नहीं है।"

श्रीकान्त—नहीं नहीं। अपने पसन्दकी चीज बतलाओ। और देखो, मुझे यह बड़ा अखर रहा है कि तुम सोनेके लिए रातको कहीं और जाओगे। बताओ बताओ, क्या बनवाया जाय?

हरिप्रसन्न—जो बनता हो, बनाओ। मुझे सब अच्छा लगता है।

श्रीकान्त—नहीं नहीं जी, यह भी कोई बात हुई कि सब अच्छा लगता है! मुझसे पूछो, लौकीका शाक मुझको बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। कोई शाकमें शाक है! और देखो, (किवाड़पर दूसरी ओरसे आती हुई थपथपाहटको सुनकर) वह टेलीफोन भी आ पहुँचा। मैं कहता था न, जल्दी बताओ। अब वह यही पूछेंगीं, क्या बनाया जाय। मैं तो इतना जानता हूँ, जो चाहे बनाय

जाय, घीया न बनाया जाय। (थपथपाहट) बोलो बोलो, टेलीफोनका जोर सुनते हो ! जल्दी करो।

हरिप्रसन्न—उसमें बताना क्या है ?

श्रीकान्त—रोज क्या खाया करते हो ? जल्दी करो जी।

हरिप्रसन्न—रोजकी बात नहीं। जो होगा, मैं खा लूँगा।

श्रीकान्त—तुम अजब आदमी हो ! तुम्हें मालूम नहीं, वह फिर खफा हो जायँगी। जल्दी बताओ भाई।

हरिप्रसन्नने कुछ दृढ़ पड़कर कहा, "मैं अन्न नहीं खाया करता हूँ। लेकिन..."

" लेकिन क्या, तुमको अन्न खिलाया जायगा और तुम्हे खाना पड़ेगा। बड़े पहलवान बन रहे हो कि अन्न नहीं खाते।...(थपथपाहट) अरे, आया, आया।"

हरिप्रसन्न चुप रहा। किवाड़ोंपर होती थपथपाहट और इधर श्रीकान्तकी बढ़ती हुई उतावली : यह देखकर उसका मन जाने कैसा-कैसा हो रहा था। जो जादू किवाड़के बजनेके पीछेसे आदमीके मनमें खलबली मचा देता है वह क्या है, हरिप्रसन्नकी पकड़में इसका उत्तर नहीं आता, और श्रीकान्तकी थपथपाहटके प्रति व्यग्रता और व्यस्तता उसे हठात् अप्रीतिकर लगती है। उसका मन उसपर कठिन होता आता है। उसे श्रीकान्तकी अपने प्रति सदभिलाषा अनिमान्त्रित और अनभीप्सित लगती है, जैसे उसके प्रति सहानुभूतिका दान दिया जा रहा हो। वह जानता था कि अन्न न केवल वह यहाँ खा ही लेगा, प्रत्युत उसके लिए वह कदाचित् उत्सुक भी है। फिर भी उसने कहा, "श्रीकान्त, अन्न मैं खाया तो नहीं करता हूँ, लेकिन मैं तुमको नाराज़ न करूँगा।"

" खाओगे कैसे नहीं ? और भी सब बेवकूफी तुम्हारी आजसे खतम की जायगी। मैं, बस, अभी आया। इतने तुम आरामसे बैठो।"

कहकर श्रीकान्त झपटता हुआ कमरेसे बाहर निकल गया।

११

" वह खाना खायेंगे ?"

रसोईके दालानमें खड़ी हुई सुनीताने श्रीकान्तसे पूछा।

" क्यों, खाना खिलानेमें भी डर है ?"

" क्या बनाऊँ ?"

श्रीकान्तने कहा, " हाँ, क्या बनाओ, यह सवाल है। कहता है, वह अन्न

नहीं खाया करता है। क्या सनक है! फल हैं? नहीं तो मँगा भेजो। लेकिन एकाध अन्नकी चीज़ जरूर उसे खिलानी होगी। समझीं?"

सुनीताने सुन लिया। मानों कहीं कट गई हो, उसने कहा, "फल कोई नहीं हैं। और किसको भेजूँ, कुत्तेको?"

श्रीकान्तने अप्रतिभ होकर कहा, "क्यों क्यों, मुशी नहीं आया?" और स्वयं यह याद करके कि मुशीके आनेका यह समय नहीं है, और सच पूछो तो, उस मुशीके करनेका यह काम भी नहीं है श्रीकान्त प्रार्थी-सा बन उठा और जल्दीसे बोला, "अच्छा लाओ, मैं ले आता हूँ।"

इसपर झल्लाकर सुनीताने तौलिया लाकर श्रीकान्तके हाथमें थमा दिया और एक रुपया भी दे दिया, कहा, "जल्दीसे लाना, और मोल-भाव करके लाना। जो कहीं दोके तीन दे आओ!"

उसके मनमें बेहद खीझ है कि वह क्यों वहाँ कमरमें धोतीका फेंटा कसे दीखी? . नौकर कोई मैं अपने लिए चाहती हूँ? कोई मैं यह हालत पसन्द करती हूँ कि एक आदमी मालिक हो, एक नौकर हो? कोई मैं नहीं जानती कि सब आदमियोंके जी है! और नौकरके भी जी होता है? चौका-बासनके लिए, या अपने किसी कामके लिए मुझे कोई नौकर नहीं चाहिए। अब देखो, खुद बाजार दौड़े गए हैं। वह आ रहे हैं,—उनके साथ बैठते, बतलाते। और नौकर होता दस काज सँभाल लेता। कुछ हो, मैं हाथ बटानेके लिए एक नौकर ज़रूर रख लूँगी। ..धोतीका फेंटा कसी मुझे देखकर वह मनमें क्या कहते होंगे? क्या बनाऊँ उनके लिए? फल ही खाते हैं? अन्न बिल्कुल नहीं खाते? ये डाढ़ी-बाल तो ठीक नहीं हैं। कहाँ मिल गए? कहाँ-कहाँ रहते हैं?

रसोईकी साज-सँभालमें वह लग रही है और इसी तरहकी बातें सोचती जाती है।

श्रीकान्तने आकर कहा, "लो!"

वह फिर कठिन हो आई।—देखो, नौकर होता तो इन्हें क्यों भागना होता। और मुझे कहते हैं, मैं नौकरके बिना रह नहीं सकती। उसने कहा, "क्या क्या लाए?" और मालूम हुआ कि एक दम बहुत पैसे डाल आए हैं, चीज भी ताजी नहीं है।

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा-अच्छा!.. हरिप्रसन्न बैठा होगा मैं जाऊँ!"

हरिप्रसन्नका नाम सुनकर सुनीताके भीतरका काठिन्य उसे ही व्यर्थ-सा लगने लगा। उसने कहा, "नाईको बुलाकर उनकी दाढ़ी-वाढी ठीक करवा दो न। बड़ी बुरी लगती है।"

श्रीकान्तको यह सुनकर एकदम खूब विस्मय और हर्ष हुआ। वह इसके अतिरिक्त और क्या चाहता है कि यह उसकी पत्नी उसके मित्रकी ओरसे बिल्कुल उपेक्षाशील न बनी रहे, उसकी कुछ चिन्ता करे। श्रीकान्तने कहा,

" ठीक ठीक। डाढीसे कैसा बदशकल लगता है! यह नाईकी बात ठीक है। अभी लो।...तुम्हे मालूम है, यह कहॉ मिला? वहीं कान्फ्रेन्सके बाहर मिल गया। सामान जनाबका एक मन्दिरमे पडा है। और आपके पास पॉच आनेके पैसे बचे हैं। "

सुनीताने पूछा, " तुमने नहीं कहा कि वह तकलीफमें क्यों रहते हैं, यहॉ ही रह सकते हैं?"

" अरे हॉ हॉ, कहा। पर कहता है, मैं किसीके घर नहीं रह सकता। सनक उसकी तोडनी होगी। दुनियासे निराला बननेका मतलब क्या है? और जब नहीं है दुःख ज़रूरी, तब उसीमें पड़े रहनेमे अर्थ क्या है? "

" पूरी बना लूॅ? कचौरीके लिए तो पिट्ठीमें देर लगेगी। " सुनीताने कहा। मानों हरिप्रसन्न आदि किसी बाहरी विषयसे उसे विशेष मतलब नहीं है, उससे कामकी बात करो, " पूरी बना लूॅ? "

" हॉ हॉ, तो बनाओ। ..वह बैठा दीवार ताक रहा होगा, मैं जाता हूॅ। "

" तो मैं पूरी-साग ही बना लेती हूॅ। एक साग काफी है, जब अन्न तो खाते नहीं।...नाईकी याद रखना। "

श्रीकान्त प्रसन्न मन हॅसता हुआ चल दिया, " जरूर जरूर। "

१२

हरिप्रसन्न स्टडीरूममें अकेला रहकर कुछ अॅधेरा पड गया। इस समय अपने अकेलेपनमे उसे स्वाद नहीं आ रहा था। उसमें उठ रहा था कि श्रीकान्त उसे छोडकर जाने किस बातको लेकर वहॉ इतनी देर लगा रहा है? किन्तु इस भावको मानों धक्का देकर अपनेसे परे हटाकर वह कमरेको देखने लगा। उसने देखा, अलमारियॉ ठीक ठीक लगी हैं, और उनमे किताबें करीनेसे चुनी हैं। छोटी अलमारीके ऊपरके खानेमें लगी हुई एक साइज़की किताबोंकी कतारने, जिनपर सुनहेरे हरूफोंमें उनके नाम चमक रहे थे, मानो उसकी दृष्टिको पकड लिया। वह उठा, पास पहुॅचा और मनमें सोचने लगा, इन प्यारी प्यारी जिल्दोको यों एकपर एक सिर टेके कवायद-सीमें प्रस्तुत रखनेमें किसकी चिन्ता व्यय हुई है?

किसका हाथ उन्हें यों रखता है ? उसने शेलीकी कविताओंका संग्रह खींच लिया और अपनी जगह आकर उसे देखने लगा।

देखा, यह पन्ना देखा, वह पन्ना पलटा, और थोड़ी देरमें पास रक्खी मेजपर उसे रख दिया। उसका मन ठीक नहीं है, और वह मन इसपर विस्मित और कठिन हो रहा है कि श्रीकान्त आखिर क्यों इतनी देरमें भी वापिस नहीं आ सका है।

किन्तु श्रीकान्त नहीं आया, और उसने फिर शेलीको उठाया। इस बार पहले ही खाली पृष्ठके शीर्षपर देखा, लिखा है 'सुनीता।' अक्षर अँग्रेजीके हैं और वे अक्षर,—नहीं, बहुत सुन्दर नहीं हैं। गलत, वे बिल्कुल सुन्दर नहीं हैं। जैसे किसीको अवकाश न हो और भागते जातेमे कुछ लिख दिया हो। उन अक्षरोंके आगे एक बिन्दी है और नीचे जल्दीमें खिंची एक लकीर। बात यह है कि अक्षरोंको कागजपर बाईं ओर न्यून कोण बनाना चाहिए। और ये छाती ताने आगे बढना चाहते हैं! इन अक्षरोंका सिर पीछे फिका है, पैर आगे निकले हैं। अतः उसने अपना फाउण्टेन पेन निकालकर उसके नीचे बना-बनाकर आदर्श अक्षरोंमें लिखा: सु-नी-ता। यह तो पृष्ठके शीर्षपर दायें सिरेपर लिखा। जाने क्या सोचकर उन्हीं अक्षरोंको पृष्ठके बीचों-बीच भी लिखा सु-नी-ता। लिखते-लिखते मानों उसने कहा भी: 'देखो, यह नाम ऐसे लिखा जाता है।' थोडी देर बाद उन अक्षरोंको देखते देखते आगे और जोड़ा: 'देवी'। किन्तु इस नामको बढ़ाकर लिखनेमें स्थानके प्रपोर्शनका सौन्दर्य बिगड़ गया, और इसलिए नामके पहले भी उसे जोड़ना पड़ा, 'श्रीमती'। 'श्रीमती सुनीतादेवी' पूरा हो जानेपर वह पृष्ठपर अंकित इस 'श्रीमती सुनीतादेवी' को देखता रहा। उसे लगा, नाम ठीक यही है। उसकी स्याही धीरे धीरे सूखती जा रही है। सूख जानेपर उसने शेलीकी पोथीको बन्द कर अलमारीमें जहाँसे ली थी वहाँ ही रख दी। और भी किताबे उस अलमारीमेंसे निकालीं। वे उनके लेखकके नामसे नहीं निकालीं, खूबसूरतीके कारण निकालीं। सबपर यही लिखा था: 'सुनीता'। नहीं, हर किसी पुस्तकपर उस नामको ठीक करनेका उसका कोई जिम्मा नहीं है। किन्तु इस बार जो एक बहुत ही सुन्दर छोटी-सी कविता उसने खींची उसमें बहुत ही सुघराईसे बनाए हुए हरूफमें लिखा मिला: 'श्रीमती सुनीतादेवी, मैट्रिक क्लास'। उससे पहले पृष्ठ-पर चिपकी चिटपर जो उसका ध्यान गया तो पता चला, म्युजिकमें प्रथम आनेपर यह उपहार है। म्युजिक!—उसका मन गड़बड़ हो आया। जल्दीसे उसने किताब अलमारीमें बन्द कर दी और वह कमरेमें ही घूमने लगा। उसने देखा, वायलिन

ऊपर टँगा है, सितार एक ओर सहारा लिए लिहाफमें बन्द लेटा है, और हारमोनियम भी वहीं है। एक कोनेमें तबलाका भी उसे सन्देह हुआ। वह मानों स्वयं अपनेको बुरा लगने लगा। उसने फिर सोचा कि श्रीकान्तको आखिर लौट आनेमें क्यों देर हो रही है, क्यों वह ऐसा गृहस्थ है? और वह तेजसे और तेज टहलने लगा।

थोड़ी देर बाद फिर अलमारीके पास पहुँचकर वहासे बर्नर्डशाका एक नया ड्रामा खींच लिया और कुर्सीपर आकर बीचमेंसे खोलकर उसे पढ़नेकी चेष्टा करने लगा। उसे शॉ बिलकुल पसन्द नहीं है। बस, वक्त उससे अच्छा कट जाता है। इस लाइनमें वह जो देता है, अगलीमें उसे काट भी देता है। अगर मनमें हिसाब लगाने बैठिए कि क्या पाया, तो पता चलता है, सिफरसे अधिक कुछ भी नहीं पाया। पर इसमें भी कम मज़ा नहीं है कि कुछ पाया, और अगला क्षण आते आते पाया कि वह छिन भी गया है। पाते चलते और साथ साथ खोतेसे चलनेमें भो कुछ स्वाद है। क्योंकि पानेका स्वाद और पानेकी आशा दोनों साथ साथ चलते रहते हैं। हरिप्रसन्न दो-तीन-चार सफे एक साँसमें पढ़ गया। फिर किताब बन्दकर सोचा—'श्रीकान्त आखिर वहाँ क्या बना रहा है' और फिर उसने शॉको खोला। इस बार पहला सफा खुला और दीखा, लिखा है 'सुनीता श्रीकान्त' इसके नीचे लिखा है, '५।६।३२'। 'सुनीता श्रीकान्त'! सुनीताको भी वह, खैर जानता है, श्रीकान्तको भी जानता है। पर जिसके बीचमें न कौमा है, न 'एण्ड' है, वह 'सुनीता श्रीकान्त' एकदम क्या है? यह मानो उसे बड़ा विचित्र लग रहा है कि 'सुनीता,' 'सुनीतादेवी' और 'श्रीमती सुनीता देवी' वही हैं जो ५।६।३२ में 'सुनीता श्रीकान्त' हैं? उसमे हुआ कि वह उस नामको ठीक करके लिख दे, 'श्रीमती सुनीतादेवी'। या नहीं तो 'सुनीता श्रीकान्त' के पहले 'मिसेज़' लिखकर उस पदको एक फार्मेलिटी दे दे। बिना मिसेज़पूर्वक उन्हीं 'श्रीमती सुनीतादेवी' के अक्षरोंवाले हाथोंसे निरा 'सुनीता श्रीकान्त' लिखा देखकर हरिप्रसन्नका जी कुछ कुण्ठित होता है। जैसे वह एकदम वंचित रखा जा रहा हो। उसने फिर फाउण्टेन पेन निकालकर कुछ सशोधन करना चाहा। पर उसका हाथ रुक गया। मानो यह उसके लिए निषिद्ध क्षेत्र है। उसने शॉको औंधा मेज़पर रख दिया और वह टहलने लगा। मनमें उसके उठा कि विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु है कि स्त्री अपना नाम भी खो दे और अमुक एक पुरुषके नामको अपने ऊपर छत्रकी भाँति लेकर उसके नीचे उसकी सम्पत्ति हो रहे?

इतनेमें श्रीकान्तने आकर कहा, " हरी, माफ करना। देर हो गई। "

हरिप्रसन्नने आँख उठाकर कहा, " तुम्हें आखिर मिल गई छुट्टी ! "

श्रीकान्तने कहा, " छुट्टी तो क्या मिल गई, दो मिनटमें फिर बुलावा आ-पहुँच सकता है। घरके बस यही झमेले हैं, यहाँ छुट्टी कहाँ है ? "

हरिप्रसन्नने कहा "कुछ काम बचा हो तो निबटा आओ। मुझे आग्रह नहीं है।"

श्रीकान्त—नहीं नहीं भाई। बात यह है कि घरमें कोई नौकर नहीं है। सो मुझे भगाया गया—फल ले आओ। उसीमें देर हो गई।

हरिप्रसन्न टहलते टहलते रुक गया। उसने अप्रसन्नतासे कहा, "नौकर नहीं है?"

" हाँ, यही तो कि कहाँ है ? " श्रीकान्तने हँसकर कहा, " और मैं तो एक दिन फल लाकर छूट गया। लेकिन · "

" नौकर क्यों नहीं है ? चौका-बासन उन्हींको करना होता है ? "

श्रीकान्त बहुत प्रसन्न हुआ—

" और नहीं तो किसको करना होगा ? चौका भी, बासन भी, झाड़ू भी, बुहारी भी। सफाई-धुलाई भी। मुझे तो क्या ? कचहरी जाना, अच्छा खा लेना, अच्छा पी लेना। पर औरतोंकी मत टेढ़ी होती है। मेरे मुँहसे एक बार निकला कि मुझे शक है कि किसी आदमीको हक है कि वह दूसरे आदमीको नौकर बनावे। इसीपर उन्होंने नौकर न रखनेकी हठ ठान ली है। मैं कह चुका हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं है, नौकर रख लो, ज़रूर रख लो। पर हठ पकड़ेपर किसकी चले ? "

हरिप्रसन्नने गम्भीर होकर कहा, " श्रीकान्त, यह नहीं है। आदर्श मैं भी जानता हूँ। पर इससे किसीको अधिकार नहीं मिल जाता कि वह दूसरेको पीसे। नौकर तुम्हें ज़रूर रख लेना चाहिए। पत्नी दासी नहीं है। "

श्रीकान्तने हरिका हाथ पकड़कर कहा, " हाँ हाँ हाँ। अब आएँ तो तुम्हीं उनसे कहना। मैं तो भाई उनसे बाज आया। तुम्हारा लिहाज वह रक्खें, तो मेरी भी बात रह जाय। मुझे क्या यह अच्छा लगता है कि तुम यहाँ इतने बरस बाद आकर अकेले बैठो, और मैं दौड़ा जाकर फलवालोंसे मोल-भाव करता फिरूँ। अच्छा, अब यह गलेमेंसे दुपट्टा उतारो, गर्म न रहो, और ठीक-से बैठो।"

हरिप्रसन्न कुर्सीपर आकर बैठ गया। उसने कहा, " देर हो रही है। मुझे जल्दी जाना है। "

" तो फिर जाओ न। जाकर अन्दर कहो कि तुम बहुत भूखे हो। दया करें, जल्दी खाना तैयार कर दें। "

हरिप्रसन्न श्रीकान्तकी इस बातका स्वाद नहीं ले सका। वह चुप रहा।

श्रीकान्तने कहा, " और एक बात मै पूछता हूँ, हरी, कि इन बडे बड़े बालों और दाढीमें तुम्हें कोई विशेष सौन्दर्य दिखाई देता है ? "

हरिप्रसन्न खीज आया। उसने कहा, " मुझे समझ नहीं पडता, सभ्यताका और सौन्दर्यका दाढीसे क्या सम्बन्ध है। दीखनेहीसे क्या सौन्दर्य है ? तुम्हारी सहिष्णुता इतनी कम क्यों है कि चाहो जैसे तुम रहते हो, वैसे ही और रहें ? मै कहता हूँ, तुम लोग गलत हो, इसलिए तुम्हारे रहन-सहनका फैशन भी गलत है। उसमें बनावट अधिक है, प्रकृतिकी स्वीकृति कम है। "

श्रीकान्त हँसता रहा। उसने कहा, " नाई आ रहा है। "

थोड़ी देरमें दरवाज़ा खड़का और बुलाहट आई, " रोटी हो गई है। "

श्रीकान्तने कहा, " आये, आये। "

हरिप्रसन्न चुप हो गया था। उसने कहा, " खाना यहाँ ही न मँगा लें ? "

श्रीकान्तने कहा, "यहाँ किस तरह मँगा सकते हैं जब कि बन चौकेमें रहा है ?"

हरिप्रसन्न चुप हो गया। कुछ सँभलकर कहा, " उन्हें कुछ आपत्ति हो—"

श्रीकान्त जोरसे हँस पड़ा, " आपत्तिकी तो पक्की बात है। अपना चेहरा तो आइनेमे देखो। "

हरिप्रसन्नने झल्लाकर कहा, "मजाक छोड़ो। मुझे कामदेव बननेका दावा नहीं है। लेकिन तुम्हे ख़्याल है कि पन्द्रह रुपए मुझे अभी चाहिंगे ? "

"पन्द्रह रुपए ! हाँ, हाँ, हाँ। लेकिन इसके लिए उन्हींसे कहना होगा। इतनी बडी रकम तो मेरे हाथोंमें वह कभी रहने देती नहीं। लेकिन तुम्हें इन्कार नहीं करेंगीं। "

हरिप्रसन्नने ओठ काट लिए। " मैं नहीं जानता। मुझे पन्द्रह रुपए मिलने चाहिए। "

" सिफारिश मैं जोरसे कर दूँगा। "

इतनेमें ही दरवाजेमें आकर सुनीताने कहा, " खाना हो गया है। मैं कितनी दफे कह चुकी हूँ। "

श्रीकान्तने कहा, " चलोजी, चलो। (सुनीतासे) लेकिन सुनो तो, यह दाढ़ी नहीं छोडना चाहते। "

सुनीताने जाते जाते हरिप्रसन्नकी ओर देखा, बस देखा ही।—हरिप्रसन्न झेंप-सा गया।

सुनीताने कहा, "खाना हो गया है, चलिए।"

हरिप्रसन्न उठने-सा लगा। उस समय सुनीताके मनमें एकाएक परिहासका भाव उठ आया।—अरे, यही है जो विपदाओंके मुँहमें आमन्त्रणपूर्वक झुकता रहा है? यह तो बड़ा शर्माता है! उसने चलते चलते श्रीकान्तको देखकर अपने चेहरेपर हाथ फेरा, फिर हाथकी बँधी मुट्ठीमें फूँक मारकर उसे एकदम खोल दिया। यानी देखो, यह दाढ़ी-वाढ़ी सब सफा हो जाय, समझे?

और सुनीता चली गई। पीछे पीछे वे दोनों भी चले।

१३

सुनीताने आकर चूल्हेपर तवा रख दिया और फूँकनीसे आँच फूँकने लगी। इसमें सिरका पल्ला पीछे खिसक रहा और आँखोंमें पानी भरने लगा।

श्रीकान्तके साथ चलता हुआ हरिप्रसन्न जब रसोईके द्वारपर आया तब एकाएक जैसे स्तब्ध रह गया और कठोरतापूर्वक आँखें नीची रखकर जहाँ बैठाया गया वहाँ बैठ गया।

शेक्सपियर, शेली, शॉकी सब किताबोंके ऊपर बैठी एक 'सुनीता' वह अभी अभी देखकर आया है। उन्हें म्यूजिकमें इनाम मिला है, और उनको उसने आग्रहपूर्वक 'श्रीमती सुनीतादेवी' बनाकर देखा है। इस समय अपने सामने रक्खी थालीमें दृष्टि बाँधकर वह देख रहा है कि 'यह' क्या है?

...और सुनीता देवीका सिरका पल्ला गर्दनमें पड़ा है, और वह आँच फूँक रही हैं, और झल्ला रही हैं कि ये क्या लकड़ी लाकर पटक दीं हैं कि जलती ही नहीं हैं, और बार बार आँखोंमेंका पानी पोंछती हैं, और ..

श्रीकान्तने कहा "बड़ा धुँआ कर रक्खा है!"

सुनीताने ज़ोरसे फूँक मारी और आग भकसे लहक उठी। तब उसने पल्लेको सिरपर ले लिया, कुछ इधर-उधर मुँहके आगे आगई हुई लटोंको ठीक कर लिया, आँचरसे राख और आँसूसे भरे मुँहको पोंछ लिया, और चुप रही।

श्रीकान्तने कहा, "अभी तवा चढ़ाया है? दो-चार रोटी बना लेतीं तब बुलातीं। अभी खाली बैठे क्या करना होगा? हरी..."

सुनीताने रोटी बेलनेमें व्यस्त रहकर कहा, "इतने फल तराशकर रक्खो न।"

और हरी नीचे देख रहा था, वहीं देखता रहा और चुप रहा।

श्रीकान्त झट उठकर सन्तरे छीलने और तराशने लगा। उसने कहा, "हरी,

आज फल मैं खाऊँ, रोटी तुम खाओ । क्यों ? ”

हरी नीचे देखता हुआ सोचने लगा कि वह इसका खटसे जवाब क्यो ह
दे देता, चुप क्यों बैठा है ? पर एकाएक जैसे जवाब नहीं सूझता और वह चु'
ही है ।

थोड़ी देरमें सुना, ‘ जरा थाली आगे कीजिए । ’ और सुनकर वह इ
बातको समझ ही रहा था कि श्रीकान्तने थाली एक हाथसे आगे बढ़ा दी । तब
सहसा लज्जित-सा हो पड़कर जो उसने सामनेको देखा तो दीखा: एक बॉह,
गोरी गोरी बाँह, देरसे एक कटोरी थामे ठहरी है । वह बाँह उसीकी ओर आगे
बढ़ी टिकी है । उसने हरिप्रसन्नके हाथसे थाली लेते हुए आग्रहपूर्वक कहा,
“ लाओ लाओ मुझे दो ” और थालीपर जब उन हाथोंसे वह कटोरी रख दी
गई तब उसे अपने सामने लेकर वह निश्शब्द हो गया ।

सुनीताने हँसकर कहा, “ लीजिए, रोटी लीजिएगा कि नहीं ? थाली जरा
आगे लाइए । ”

उसने झट दोनों हाथोंसे थाली उठाकर बढा दी, और उसकी आँखें भी उठीं।
सुनीता मुस्करा रही थी । उसे ध्यान न था कि बालोंकी कोई लट बिखरी
भी हो सकती है । हरिप्रसन्नको लगा कि यह इस नारीसे बाहर नहीं है कि वह
इसी समय उसपर दो एक बातें कस दे । और उसने जाना कि जो मुस्कराती
हुई इस समय उसके सामने है वह ‘ श्रीमती सुनीतादेवी ’ नहीं हैं, कोई
‘ सुनीता ’ भी नहीं है । और हरिप्रसन्नका मन जाने कैसा हो आया ।

सुनीताने कुछ कहा नहीं, हाथकी रोटी थालीमें छोड़ दी, और फिर अपने
काममें लग गई ।

श्रीकान्तने कहा, “हरि , आज यह रहे कि फल मेरे, रोटी तुम्हारी—क्यों ?”

उस समय हरिप्रसन्नने कहा, “लेकिन देखो, रोटी कितनी फूली है ।” कहकर
मानो उसे अपनेपर आश्चर्य भी हुआ ।

“ तो भाई, ऐसी फूली फूली रोटी छोड़नेवाला मैं नहीं । ” कहा और
श्रीकान्तने फलोंकी एक तश्तरी लाकर हरीके आगे रख दी, एक अपने पास
रख ली । फिर अपनी थाली उठाकर चौकेमें बैठी सुनीताकी ओर आगे बढ़ाते
हुए कहा, “ क्यों, हमें आज कोरा ही रक्खा जायगा ? ”

“ दे तो रही हूँ, ” सुनीताने कहा, “ बनेगी जब तो दूँगी । थोड़ा सबर
रक्खो । ” और उस थालीमें रोटी भी रख दी, कटोरी भी रख दी ।

हरिप्रसन्न विपन्नावस्थामें है। ऐसी अवस्थामें वह कभी नहीं हुआ। शेक्सपियरकी किताबवाली सुनीताको वह समझ सकता है। ऐसी बहुतोंको वह समझता आया है। लेकिन इस रोटीवाली 'सुनीता' को, इसको जो एकदम 'भाभी' है, वह किस तरह समझे? किसी ओरसे भी तो उस भाभीको ध्यान नहीं प्रतीत होता है कि उसके नामके साथ 'देवी' भी है, और कि उस नामके पहले 'श्रीमती' भी है। या यह भी, कि भाभी छोड़कर वह सुनीता भी है।

उसने सुना, कोई पूछ रहा है, 'रोटी शायद आपको अच्छी नहीं मालूम होती है।'

उसने जल्दीसे कहा, "नहीं नहीं..."

"तो आप खा क्यों नहीं रहे हैं? न आदत हो तो जाने दीजिए। फल तो हैं।"

"जी नहीं, मैं खा तो रहा हूँ...।" और हरिप्रसन्न खाते दीखनेका प्रयास करने लगा।

श्रीकान्तने कहा, "चाहिए यह कि इनके पाससे फल खींच लिये जायँ, तब यह बाज़ आएँ।"

यह कहकर सचमुच ही उसके सामनेसे श्रीकान्तने तश्तरी खींच ली।

"सुनो जी", (सुनीताकी ओर कहकर) "आजका सरदा बड़ा मीठा है।" और सुनीताके इधर देखनेपर श्रीकान्तने वह तश्तरी दिखा दी जो हरिप्रसन्नके सामनेसे ग़ायब कर दी गई थी।

सुनीताने इशारे इशारेमें कहा, "नहीं नहीं, रख दो, रख दो।"

श्रीकान्तने तश्तरी वापस वहीं रखते हुए कहा, "लो भाई, नाराज़ न हो। तुम्हारा माल यह रहा।"

कुछ देरमें सुनीताने कहा, "आप खाकर अभी थोड़ी देर बैठेंगे न?"

हरिप्रसन्न जाने क्यों अपनेमें कुछ छोटा होता जा रहा था। उसने कहा, "मालूम नहीं। मुझे जाना चाहिए।"

"कहाँ जायँगे?"

"जहाँ टिका हूँ, जाऊँगा। आप क्या यह पूछना चाहती हैं, कहाँ टिका हूँ? एक मन्दिरसे लगी हुई धर्मशालामें सामान रक्खा है।"

"तो आप ठहरिएगा नहीं?"

"अब तो मैं दिल्ली ही रहनेकी सोचता हूँ। आता ही रहूँगा। मालूम यही

होता है कि आपको काफी कष्ट दूँगा।"

सुनीताने आँख ऊपर उठाकर देखा, "क्या मैं समझूँ, आप आते रहेंगे? (श्रीकान्तकी ओर सङ्केत करके) यह बहुत अकेले रहते हैं, और आपको बहुत याद करते थे।"

"तो आप मुझे जानती हैं?"

"हाँ, सुनकर जानती हूँ। आपको अब तकलीफकी जरूरत नहीं है। तकलीफ आपने कम नहीं उठाई। और यहाँ हम लोग जो हैं।"

श्रीकान्त इस समय सर्वथा दत्त-चित्त होकर खाना खा रहा था। उसने कहा, "लाओ भाई, रोटी दो न। हम ऐसे फलाहारी और मिताहारी नहीं हैं।"

"देती हूँ" सुनीताने रोटी दे दी—(हरिप्रसन्नसे) "यह आपका ही घर है। धर्मशालासे सामान मँगवा क्यों न लें?"

हरिप्रसन्न कठिन-सा हुआ।—"धर्मशालामें ही क्यों मैं रहूँगा? रहना ही होगा तो कुछ ठीक व्यवस्था करनी होगी। देखता तो हूँ कि मुझे अब बदलना है। लेकिन घर-बार बसाकर तो आदमी अपनेको ह्रस्व करता है। मुझे उस राह नहीं जाना।..."

सुनीता चुप होकर रोटीमें लगी रही। उसे इस आदमीकी बातोंमें कहीं कुछ कठिन-सा मालूम होता है। पर ठीक वहीं उसे विस्मय भी है। उसी स्थलके प्रति उसमें आकर्षण भी है। जैसे वहीं कुछ रहस्य है, अज्ञात है, जिसे खोजना होगा।

वह रोटीमें व्यस्त रही और सोचने लगी कि यह व्यक्ति पाँच आने पैसे पास लेकर क्या करना विचारता है? यह आदमी इतना अबोध फिर भी इतना अनुभवी है क्यों? वह है क्या? उसे जानना होगा।

श्रीकान्तने कहा, "हरि, तुम उठना चाहो उठो। मैं तो, तुम जानो, मेहमान नहीं हूँ कि भूखा रहूँ।"

हरिप्रसन्नने कहा, "आजकी बात होती तो भूखा भी रह लेता। पर मुझे तो आते ही रहना है। यहाँसे मेरे भूखे जानेका भरोसा तुम न करना।"

श्रीकान्त प्रसन्न हुआ। आखिर हरिको आवाज़ मिली तो! उसने कहा, "सुनो जी, यह बैठे हैं, एक रोटी इन्हें और दो।"

"अरे, नहीं नहीं .."

"लीजिए भी" सुनीताने कहा, "अच्छा, बस यह ले लीजिए।" कहनेके साथ एक रोटी थालीके ऊपर उसके इकार करते हुए फैले हाथोंपर डाल दी।

हरिने कहा, "श्रीकान्त, यह ठीक नहीं है।"

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा, खाओ खाओ।"

और सुनीताने करछी उठाकर दाल, शाक उसकी थालीमें परोस दिया।

इस भाँति खा-पीकर वे दोनों उठ गए।

१४

स्टडी-रूममें आकर श्रीकान्तने कहा, "अरे, पान ले आऊँ।"

हरिप्रसन्नने कहा, "मैं पान नहीं खाऊँगा।"

"अच्छा, इलायची।"

"नहीं, कोई जरूरत नहीं।"

लेकिन झपटकर श्रीकान्त तो वह जा रहा था।

हरिप्रसन्नने कहा, "श्रीकान्त सुनो तो...।"

"इलायचीमें क्या है" श्रीकान्तने कहा और वह बाहरकी ओर ही बढ़ा।

"नहीं श्रीकान्त, और बात है, सुनो तो—"

श्रीकान्तने लौट आकर कहा, "कहो।"

हरिप्रसन्नने कहा, "मैं जाऊँगा। और पन्द्रह रुपए मुझे मिल जाने चाहिएँ।"

श्रीकान्तने उसके हाथ पकड़कर कहा, "तो बैठो तो। उन्हें भी चौकेसे निबट लेने दो।"

"नहीं नहीं", हरिप्रसन्नने कहा, "उनसे ज़िकर करनेकी क्या ज़रूरत है।"

श्रीकान्तने हँसकर कहा, "खजाञ्ची, मुनीम और मालिक तीनों वही हैं। मैं और पैसा कहाँ पाऊँगा?"

"तो मेरा नाम न लेना। अपनी तरफ़से ही माँग लेना।"

श्रीकान्तने गम्भीर होकर कहा, "हरिप्रसन्न, तुम यह क्या कहते हो? तुम्हें पैसेकी जरूरत है, इसमें लज्जाकी क्या बात है? यह पातक नहीं है। तुम्हारे पास कम पैसा है, क्या यह गौरवकी भी बात नहीं हो सकती? बहुत हैं जो धनसे भरे हैं, पर मनसे काले हैं। तब धनसे खाली होना क्या कुछ उजली बात भी नहीं हो सकती? हरि, अपनी जरूरतके बारेमें तुम मुझसे संकोची नहीं हो सकोगे और वह तुम्हारी भाभी है, उससे भी नहीं हो सकोगे।"

हरिप्रसन्नने धीरे-से कहा, "फिर भी क्या फायदा है।"

"फ़ायदा?" श्रीकान्तने कहा, "अच्छा अच्छा, तुम पान तो खाते नहीं,

इलायची ले आता हूँ। तब बातें होंगी।"

सुनीता चौकेमें चूल्हेके पास ही थी। श्रीकान्तने पहुँचकर कहा, "सुनोजी, एक पन्द्रह रुपए तो निकालकर दो।"

सुनीताने अनायास कहा, "क्या-आ?"

"हरिको चाहिए, और वह जा रहा है।"

"वह क्यों जा रहे हैं? अभी बैठे न। कहना, अभी नहीं मिल सकते। दो घण्टेमें मिलेंगे।"

"नहीं नहीं, उसको जाना है।"

सुनीताने तवा थामकर पन्द्रह रुपए लाकर दे दिए। कहा, "देखो, यह मत जताना कि मुझे कुछ भी मालूम है या रुपए मुझसे लाए हो।"

"क्यों?"

"यों ही। फ़ायदा क्या है?"

'फ़ायदे' की बात सुनकर वह असमञ्जसमे रह गया। उसने कहा "अच्छी बात है।"

सुनीताने कहा "तुम्हीं सोचो, अपनी ग़र्ज़मन्दीका प्रकट होना किसको अच्छा लगता है?"

"लेकिन सुनीता," श्रीकान्तने कहा, "हरि इस दुनियाका आदमी नहीं है। उसकी जरूरतमें उसका अपना निजत्व क्या है? इसलिए उसके प्रकट करनेमें उसे सकोच भी कैसा? मैं समझता हूँ कि वह इतना समर्थ है कि रुपया लेकर वह हमारा अहसानमन्द न बने। तुम्हीं क्या समझती हो कि रुपए देकर उसपर अहसान कर रही हो? अहसान इसमें क्या है? जब अहसान नहीं है तो संकोच ही क्या है?"

"नहीं नहीं, लाख कुछ हो, ऐसा नहीं होता। और कोई कहनेकी ज़रूरत नहीं है कि मैं कुछ जानती हूँ। मैं खुद मानती हूँ कि पैसेके देने-लेनेके बारेमें न कोई अहसान होना चाहिए, न सकोच होना चाहिए। लेकिन फिर भी कहनेकी जरूरत नहीं है। समझे...और दाढ़ी?"

"क्या आज ही तुम चाहती हो?"

"मुझे तो अच्छी नहीं लगती। और वह तो 'सिंप्टम' है। दाढ़ीसे पता चलता है, किस रास्तेपर वह हैं। लेकिन उस रास्तेसे उन्हें लौटाना है कि नहीं।..."

"लेकिन एकदम-नहीं, अभी ठहरो।"

" उनसे कहना, आते रहें। फल खायेंगे, तो वह भी यहाँ मिल जायँगे।"

" अच्छी बात है।"

सुनीता चूल्हेपर बैठ गई, और श्रीकान्त चले आए। आकर कहा, " इलायची तो लोगे ? लो।" और एक इलायची उसे दे दी। हाथ पकड़कर कहा, " अच्छा, दो मिनट तो अभी बैठो। फिर चले जाना।"

हरिप्रसन्नके बैठनेपर श्रीकान्तने रुपए निकालकर दे दिए।

हरिने कहा, " उनसे तो नहीं कहा ?"

श्रीकान्तने कहा, " इसमें भी कुछ कहनेकी बात थी ?"

हरि०—मुझे अफ़सोस नहीं है कि मैंने आज अन्न खाया। खाना खूब बना था। क्या शुक्रिया दूँ ?

श्रीकान्त—खूब ही बना करेगा। तुम आया तो करो। कहाँ क्या खानेका इन्तजाम करते फिरोगे। यहीं पक्का रक्खो। क्यों ?

हरि०—नहीं नहीं, फल स्वास्थ्यकर होते हैं, अन्न भारी। और खाना कौन ऐसी बड़ी बात है कि उसमें तरद्दुद हो। तुम्हारे यहाँ आगया तो, नहीं आगया तो। . लेकिन, मैं चलूँ।

श्रीकान्त—जाओगे ? तो अब कलसे क्या प्रोग्राम रहेगा ?

हरि०—हाँ, यह भी तुमसे बातें करनी है। कुछ काम तो हाथमें होना ही चाहिए जिसमें जिन्दगी कुछ कटे, और थोडा पैसेका भी ठीक हो। तुम भी सोचना, क्या किया जाय। आदमीकी उपयोगिता भी किसी एक विशेष कामको हाथमें पकड़ लिए बिना सदिग्ध रहती है। मैं तो यही देखता आया हूँ।... वह फोटो देखें।

उसने कहा और बिना विशेष प्रतीक्षा किये कुर्सी लेकर, उसपर चढ़कर सामने टँगी उन पति-पत्नीकी एक फोटो उतार ली। उसके नीचे दोनोंके आटोग्राफ थे और तिथि लिखी थी।

". .तो सन् ३२ में तुम्हारा विवाह हुआ ? तभीकी तो यह तस्वीर है न ? लेकिन यह कौन फ़ोटोग्राफर है ? तुम्हारा चेहरा कैसा भद्दा कर दिया है। रिटर्चिंग उसे आया नहीं। एक बारीक-सी सौफ्ट पेन्सिल होगी ? नहीं ? तो जाने दो। चेहरा बिल्कुल बिगाड़ दिया है। या लाओ, लिए ही जाता हूँ। कल ठीक कर लाऊँगा।. ले जाऊँ ?"

श्रीकान्तने कहा, " हाँ हाँ। तो शामको यहीं खाना खाना।"

" अच्छी बात है। देखा जायगा। " हरिने कहा, " कामके बारेमें तुम सोचना। फोटो मैं कल लेता आऊँगा। उनसे कहना, खानेके लिए धन्यवाद। "

" अच्छा। "

" अच्छा—तो—"

और हरि चला गया।

१५

जीवनमें एक फीकापन-सा, एक रीतापन-सा आ-चला था। इस नए विषय (हरिप्रसन्न) के प्रवेशने जैसे उसे ताज़गी दी। कुछ लहरा आया, कुछ प्राप्य बना कि जिसपर दो बातें हो लें। चाहे उलझें, चाहे सुलझें, पर जिसको लेकर दोनों एक दूसरेके प्रति जियें। जहाँ जीवन एकदम इतना ह्रस्व और शून्य है कि कोई उलझन, कोई आपसी खटपट भी सम्भव नहीं, वहाँ यही शुभ है कि कुछ हो, जो रगड़ चमकावे, अनबन पैदा करे।

किन्तु, सुनीता और श्रीकान्तके साथ अनबनकी बात तो बेकार है। फिर भी हरिप्रसन्न जो यहाँ कुछ काल रह गया है, उससे दोनो कुछ भर आए हैं। दोनों कुछ अधिक सम्मिलित, अधिक सप्राण, और जीवनके प्रति कुछ आधिक उद्यत, समर्थ और सानद होगए हैं। अब बीचमें बातके लिए अभाव वैसा न होगा।

हाँ, जिन्हें लहर कहो, उन्हें सलवट भी कह सकते हो। सलवट चीज गलत है, कह सकते हो। कह सकते हो कि जहाँ गहराई बहुत हो वहाँ लहर बहुत न होगी, कि जहाँ थाहका पता नहीं है वहाँ लहरका भी पता न होगा, कि जहाँ जीवन ही जीवन है, तलछट तक जहाँ वही वह है, वहाँ न हुलास है, न लहर है। वहाँ चाञ्चल्य कहाँसे हो? पर आदमीके साथ तो जड़ता भी लगी है। सो, जीवनके लक्षणको चञ्चलता भी कह लिया जा सकता है, वेग भी कहा जा सकता है।

श्रीकान्त और सुनीताके परस्पर-सयुक्त जीवनमें इधर कुछ प्रमाद, जड़ता और बन्धनका बोध आ चला था। उस शात अलस-तलपर हरिप्रसन्न आ आविर्भूत हुआ। वहाँ लहरें उठ लहरीं। नींद जागी। प्रशातता अशात हुई। किन्तु इससे उस सयुक्त जीवनको कुछ हर्ष और रसास्वादकी ही अनुभूति प्राप्त हुई। कुछ पुष्टता ही प्राप्त हुई। तब सुनीताके प्रति श्रीकान्तकी आँखे जैसे अधिक खुलीं। सुनीता भी जैसे भीतरसे कुछ अधिक खिली। और दोनों परस्परमें मानों कुछ सतर्क, ससभ्रम, अधिक प्रस्तुत और अधिक प्राप्त होना चाहने लगे।

अदालतसे आये पतिके सामने नाश्ता रखकर खुद भी कुर्सीपर बैठकर सुनीताने कहा, "आज तो अदालतसे ठीक वक्तपर आ गए। नहीं तो बिल्कुल ही शाम कर दिया करते हो।"

"हॉं, अदालत जो ठहरी," श्रीकान्तने कहा, "जिसका हाकिम मैं नहीं हूँ।—अच्छा बताओ, हरिप्रसन्न तो नहीं आया? वह कल फोटो ले गया था। कह गया था, आज जरूर आऊँगा और उसे ठीक करता लाऊँगा।"

"नहीं, वह तो नहीं आये।"

"फोटो उसे पसन्द न थी। लेकिन तुम्हारी तस्वीर तो उसमें कमालकी है। ऐसी कि . मैं नहीं जानता, वह क्या ठीक करके लायेगा?"

"लो, यह लो।" सुनीताने तश्तरी उसकी ओर बढाकर कहा, "कोई बात है कि जबसे तुम्हें भूख नहीं लगी! समझ नहीं आता, वह क्यो नहीं आये। वह क्या करेंगे, तुमने कुछ सोचा है?"

"वह सब कुछ कर सकता है," श्रीकान्तने कहा, "लेकिन फिर भी देखो कि सोचना होगा कि वह क्या करे। और सोचते हैं, फिर भी समझ नहीं आता कि वह क्या करे। माहवार हम कुछ रुपया दे सकते हैं। इतना अपने पास भी कहाँ है कि कोई अच्छा कारोबार वह ले बैठे।"

"एक बात है," सुनीताने कहा, "सत्याकी ट्यूशनके लिए वह कैसे रहेंगे? बाबूजी अच्छे ट्यूटरके लिए कह रहे थे।"

श्रीकान्त हर्षसे भर गया। उसने सुनीताका हाथ पकड़ लिया, मानो कि वह भी खानेका पदार्थ हो।

"अरे, हाँ-हाँ," उसने प्रसन्न होकर कहा, "खूब, सुनीता, मुझे यह सूझा ही नहीं। मैं समझता हूँ, हरि बहुत ठीक रहेगा। सत्या सैकिंड इयरमे ही तो है। हरिप्रसन्न जरूर पढ़ा सकेगा, और अच्छा पढ़ायेगा।"

अपने हाथोंमें थमे हाथको उसने दबाया, "अच्छा, बाबूजी दे क्या देंगे?"

"मैं समझती हूँ, तीस-पैंतीस तो एक घण्टेके देंगे ही।"

"बस बस बस। सुनीता, यह ठीक है। उसके जीनेकी फिकर मिटी। अब करे जो कुछ उसे और करना है। अगर ब्याह नहीं करता क्रान्ति ही करता है, तो चले वही करे। पहली सीढ़ी तो हुई कि वह कुछ कमाता है। चलते चलते यों कुनबा भी एक दिन हो जायगा।—क्यो?"

सुनीता सोचमें पड़ गई थी। उसने कहा, "हॉ-ऑ-ऑ।"

श्रीकान्त एकदम ऐसा हल्का हो गया कि भीतरसे जैसे भरपूर हो गया हो। मेजपर रक्खा नाश्ता जल्दी जल्दी वह खत्म करने लगा, और बोला, "हॉ-ऑं-ऑं! यह भी कोई बात होती है,—हॉ-ऑं-ऑ! नहीं नहीं, यह बात पक्की हुई कि वह ट्यूटर बनेगा। यह एक। इसी तरह दो और तीन और चार। सब बातें होती जायँगीं। और लकीरके अखीरमें हम देखेंगे कि बाबू हरीजी नेक बाप हैं, और नेक पति। क्यों, और तुम्हें चाहिए क्या?"

सुनीता चुप रही।

श्रीकान्तने कहा, "लेकिन अभी तक वह आया क्यों नहीं? आज शामको तो उसका खाना यहीं है। तुमने बनाया है न?"

"नहीं—"

"नहीं क्यों? आखिर वह आयगा तो है ही।"

"फल ही तो खायेंगे। फल हैं।"

श्रीकान्तने विस्मयमें पड़कर पूछा—

"तो तुमको मालूम है, अन्न नहीं खायगा? मुझे तो ऐसा नहीं लगा।"

"जब नहीं खाते, तब जबर्दस्तीकी क्या जरूरत है? लेकिन अगर तुम्हें अपना बहुत खयाल हो, तो मैं अब बनाये देती हूँ। और वह नहीं आये तो...?"

श्रीकान्तने एकदम कहा—

"अच्छा अच्छा। देखो, बज क्या गया—साढ़े पाँच? मैं समझता हूँ, छः तक आ जायगा। आया आया, नहीं तो वह जाने। बोलो आज वहाँ चलती हो, 'राजरानी मीरा' में? कहते हैं, अच्छा फिल्म है।"

सुनीता विस्मयमें आकर पतिको देखने लगी। पाँच-छः वर्षसे जिसकी चर्चा भी समझो इस घरमें निषिद्ध है, उसीका निमन्त्रण यह श्रीकान्त ही उसे दे रहे हैं। कह रहे हैं, 'चलो, सिनेमा चलें!'

वह चुप होकर पतिकी ओर देखती रही।

"क्यों," पतिने कहा, "सिनेमामें दोष है? व्यसन बुरा है, यों दिल-बहलाव क्या बुरा है? और 'राजरानी मीरा' अच्छी फ़िल्म सुनते हैं। हरिप्रसन्न आता ही होगा। नहीं आया तो हम दोनों चलेंगे, क्यों?"

सुनीता क्या यह कहे कि 'नहीं?' कई बार कई फिल्में देखनेकी बात मनमें ही मर गई है। उसके जीमें बहुत है कि यह जो उसके बाहर होकर दुनिया फैली है वह यह सब कुछ देखे, सभी कुछ देख डाले। किन्तु पतिके सम्बन्धमें पाती

रही है कि कर्तव्य-परायणता और जीवनमे यम-नियमादि पालन ही उनके लिए सब कुछ है, विश्वका चित्र-वैचित्र्य उनके लिए कुछ भी नहीं है। उस नारीके मनने तो अब तक कभी यह कहना छोड़ा नहीं कि विश्व भी दीखे। पर पतिके अनु-गमनमें वह भी विश्वकी ओरसे मुँह फेरकर अन्तर्मुखी होनेकी महत्तापर चित्त लगाती रही है। आज वह उन ही पतिसे सुन रही है, 'सिनेमा चलो!' उसने धीरे-से कहा, "अच्छा!"

"सुनीता," श्रीकान्तने कहा, "सिनेमामें दोष नहीं है। क्या तुम नहीं जाना चाहती हो?"

"नहीं नहीं, चलो।"

"तो तैयार होओ। हरिप्रसन्नने तो काहेको कुछ देखा होगा? वह अभी आया नहीं। खाना आकर ही खायें, क्यों? उसे कुछ और भी आनेका मौका रहेगा।"

सुनीताने कहा, "तो सत्याको भी न बुला लें?"

"हाँ हाँ, क्यों नहीं, ज़रूर।" श्रीकान्तने कहा और उसे मालूम हुआ कि तब सत्याको बुलानेके लिए उसे ही जाना होगा और अभी चले जाना चाहिए।

श्रीकान्तने कहा, "अच्छी बात है। हरिप्रसन्न आये तो उसे बिठाना। मैं जल्दी ही आ जाऊँगा, और तुम तैयार रहना। सवा छःसे खेल है।—पानी!"

नाश्तेके पास पानीका गिलास रखना भूल गई थी, भागकर पानी ले आई।

श्रीकान्त बाबूजीके यहाँसे सत्याको लिवानेके लिए रवाना हुआ और सुनीता तमाशेमें जानेके लिए तैयार होनेको चली।

१६

सत्या सुनीताकी छोटी बहन है। आजकल कॉलिजके इण्टरमीजिएटके दूसरे वर्षमें पढ़ती है।

पिता सम्पन्न हैं और इसी दिल्लीके गण्य-मान्य नागरिकोंमेंसे हैं।

सत्या बहुत दुबली है, पर बहुत तेज। बहनें और भी हैं, पर जैसे सुनीताके लिए सत्या और सत्याके लिए सुनीता ही है। सत्या जैसे और किसी कामके लिए नहीं बनी, बस, सीखनेके लिए बनी है। पढ़ना-लिखना सीखती है, गाना-बजाना सीखती है, नृत्य और चित्रण सीखती है। जो सीखती है, दुनियामें ये ही उसके लिए विषय है, और बातें ही नहीं हैं। बड़े परिवारमें बड़ी पॉलिटिक्स

होती है। युद्ध, विग्रह, सन्धि सभी कुछ वहाँ होता है, और मित्र-लाभ और सुहृद्भेदके नए नए संस्करण भी होते रहते हैं। पर वह अपने सीखनेसे इधर-उधर कहींका पता नहीं रखती। इसी भाँति अठारह वर्षकी हो गई है। लगती ऐसी है कि पन्द्रहकी भी न हो।

* * *

सुनीताने नाश्तेकी तश्तरियोंको सँवारकर रख दिया। चौकेकी सँभालमें गई, उसे भी सँवार दिया। सोचने लगी कि क्या अभी पराँवठे बना दे। लेकिन अभी किस भाँति बना देगी; क्योंकि समय बहुत नहीं है, सत्या अभी आती होगी और उसे भी तैयार होना है। वह सब विचार कर अपने कपडे बदलने चली गई। धानी रेशमी साड़ी पहन ली और दर्पणके सामने गई।

तभी मालूम हुआ, कोई ऊपर ही आकर कह रहा है, "श्रीकान्त, श्रीकान्त!"

उसने वहींसे कहा, "वह हैं नहीं, गए हैं।"

हरिप्रसन्न इस आवाज़पर ठिठक रहा। उसने चाहा कि लौट जाऊँ, पर वह ठिठका ही रह गया।

सुनीताने उत्तर न पाकर सोचा, 'कहीं चले तो नहीं गए।' और उसने जरा जोरसे कहा, "गए हैं। अभी आते होंगे। बैठें।"

हरी, अवश, स्टडी-रूममें जाकर बैठ गया।

उसने सुना, "मैं अभी आती हूँ। माफ कीजिए।"

सुना, और बैठा रहा। बैठे बैठे फिर अपने पाससे रैपरमेंसे फ़ोटो निकालकर वह देखने लगा। उसने देखा कि फ़ोटोग्राफ निश्चय पहलेसे बहुत सुधर गया है। वह उसीको देखता रहा। अब उसे यह अद्भुत मालूम हुआ कि फोटोग्राफके नीचे उसने अँग्रेजीके अक्षरोंमें 'मिस्टर श्रीकान्त' और 'श्रीमती सुनीता-श्रीकान्त' लिख दिया है। लिखते तो लिख दिया पर उसका हेतु अब उसकी समझमें नहीं आता है। उसने फाउण्टेन पेन निकाल लिया, और चाहा कि उसको बिगाड़ दे। पर फोटो बिगड़ जायगा!—और वह कलम हाथमें लिये फोटोकी ओर देखता हुआ ही बैठा रह गया।...

सुनीताने चोटी ठीक कर ली, माथेपर बिन्दी बैठा ली, चेहरेको एक निगाह ठीक देखकर पास कर लिया, और एकाएक उसको याद आया कि ओह! अभी उसे स्टडी-रूममें भी जाना है जहाँ हरिप्रसन्न है। वह बेकाम कुछ देर इधर-उधर घूमती रही, जैसे इतनी देरमें उसकी लज्जा नईसे पुरानी हो गई। फिर

सोचकर उसने पान लगाया और पान लेकर स्टडीरूममें गई।

हरिप्रसन्नके हाथमें फोटोग्राफ था और वह उसमें व्यस्त था।

" माफ कीजिए, " सुनीता कहती हुई आई " लीजिए, पान लीजिए। वह अभी आते होंगे। कह गये हैं, आप बैठें। आज—आज सिनेमा जाना है। आप भी तो चलेंगे न ? " एक साँसमें वह यह सब कहकर एक कुर्सी लेकर बैठ गई और पानकी तश्तरी आगे सरका दी।

" पान ! " एक साथ फोटोको उल्टा करके हरी बोला, " मैं—लाइए। कितनी देरमें मिस्टर श्रीकान्त आयेंगे ? "

हरीकी अस्त-व्यस्ततापर सुनीता सँभल-सी गई।

" कोई पन्द्रह मिनटमें समझिए, वह यहाँ होंगे। ओह, कल आप यह फोटो ले गए थे। मुझे मालूम हुआ था। कुछ कमी आपको बर्दाश्त न हुई और आप उसको दुरुस्त किए बिना न रह सके। तो आप फोटोग्राफी भी जानते हैं ? . देख सकती हूँ ? "

लजाकर फोटो उसने सुनीताके हाथोंमें दे दी।

" जी नहीं, यों ही कुछ जानता हूँ। "

" मैं तो जड़ हूँ " सुनीताने कहा, " आप खुद न बतायेंगे तो मैं खाक न समझ सकूँगी कि आपने क्या किया। (फोटोग्राफको मेजपर बिछाकर) क्या मैं समझ सकती हूँ, खराबी क्या थी और आपने उसे कैसे सुधारा ? "

सुनीता फोटोग्राफपर झुकी थी। हरिप्रसन्नने पास कुर्सी सरकाकर बताना आरम्भ किया कि लाइट और शेडका आइडिया फोटोग्राफरको खाक भी न था और श्रीकान्तके चेहरेकी बाईं साइड एकदम सूजी मालूम होती थी। और कहा, "—आप ! आपका तो इम्प्रेशन परफेक्ट है। "

दोनोंके सिर बहुत निकट आगए थे। सुनीताने ऊपर देखा और वह अपनी कुर्सीमें ठीक हो बैठी। हरि भी लजाकर अपनी कुर्सीमें खिंच बैठा।

सुनीताने कहा, " फोटोग्राफी कितने दिनमें सीखी जा सकती है ? "

" सीखना क्या है। महीना-भर बहुत है। फिर तो प्रैक्टिस है। "

" महीना-भर ! " सुनीताने कहा, " आप क्या कहते हैं ? इन्होंने भी चाहा, महीनों लगाए, पर इनका हाथ तो अब भी कच्चा है। "

हरिप्रसन्नने कहा, " आपके यहाँ कैमरा है ? मुझे दिखाइएगा, मैं आप लोगोंकी तस्वीर लूँगा। "

सुनीता चुप हो गई। हरि भी चुप रहा। वह अपने आपको अद्भुत मालूम हो रहा था।

थोड़ी देर बाद सुनीताने कहा, "आप आज देरसे आए। वह समझते थे, आप दोपहर किसी समय आजावेंगे।"

"जी हाँ।"

"आप सिनेमा तो चलेंगे न?"

"मैं—चला चलूँगा।"

"मेरी छोटी बहन भी उनके साथ आती होगी। हम सब लोग चलेंगे। आपकी कोई बहन है?"

"हाँ, दो। लेकिन मैं तो एक ही हूँ।"

"आप एक क्यों हैं? आप, सुनते हैं, विपदासे बचकर नहीं चलते, इससे अकेले ही चलना चाहते हैं।"

"मैं—हाँ, मेरा कौन ठिकाना है। और हमारी जिन्दगीकी कीमत क्या है। मैं उसकी कीमत ज्यादा नहीं आँकता। मेरी समाप्तिपर विश्वकी क्या क्षति है? कुछ नहीं।"

"ठहरिए" सुनीताने कहा, "कुछ नाश्ता तो कीजिएगा न। मैं फल ले आती हूँ।"

"नहीं नहीं..."

लेकिन वह तो कमरेके बाहर तैर गई। उस समय उसकी रेशमी साड़ीकी धानी आभा ही काँपती हुई झलमल झलमल हरिप्रसन्नकी आँखोंमें रह गई। और उसके कानोंमें साड़ीकी तरल पर्तोंको छूकर जाती हुई समीरकी सरसराहट भरने लगी। मानों कुछ हौले हौले बज रहा हो, कुछ भीना भीना बरस रहा हो और भीतरसे उसे भिजो रहा हो...

थोड़ी देरमें आकर सुनीताने फल उसके सामने रख दिए।

"लीजिए-लीजिए," उसने कहा, "आपकी तो रोटी ही यह हैं। देखिए तकल्लुफ़ न करें। वह कह रहे थे, मैं आपके लिए रोटी ही बनाऊँ। लेकिन अपनी अपनी रुचि है। और मुझे यह बुरा नहीं लगता कि अन्न न खाया जावे। रुचिपर जब्र क्यों।...आपको रोटी कैसी लगी थी?"

"मुझे बहुत अच्छा लगी थी।..."

"तो लीजिए, मैं व्यर्थ फलके पीछे रही। अब रोटी ही लीजिए।"

" जी नहीं, सो नहीं..."

" अच्छी लगती है, तो मुझे आपके पुन्न और परातिग्याकी फिक्र नहीं है।"

पुन्न और परतिग्या !—खूब पढी लिखी इन भाभीके मुँहसे विचित्र ध्वनिमें उच्चरित होते हुए शब्दोंको सुनकर हरिप्रसन्न जाने क्या होने लगा। उसने कहना चाहा—" मैं मैं—"

सुनीताने कहा, " देखिए, आप मुझे माफ करेंगे। यह मुझे आपके बारेमें कहा करते थे—। हम नहीं समझते थे, आप हमसे दुराव समझेंगे। आप नाराज़ तो नहीं होंगे न, जब मैं कहूँ कि आपको सकोच नहीं करना चाहिए।"

" नहीं नहीं..."

तभी किन्हींके आनेकी आहट पाकर सुनीताने कहा देखिए, वह आ गए मालूम होते हैं। आप, आप क्यों उठिए। बैठिए, बैठिए।"

कहते कहते सुनीता कमरेसे बाहर निकल आई। हरिप्रसन्न संतरा हाथमें लिये बैठा रहा।

१७

श्रीकान्त सत्याके साथ आया। दोनों हँसते आ रहे थे। सत्या कम हँसती है, अधिकतर मुस्कराकर ही रह जाती है। पर जब हँसती है तो खिलखिल फूल-सी हँसी हँसती है। तब वह कुछ भी और नहीं लगती, चमेलीके फूल-सी मासूम लगती है।

सुनीताने आगे बढ़कर कहा, " बहुत देर लगा दी। वह तबके बैठे हैं।"

सत्याने हँसकर कहा, " जीजी, कौन ?"

सुनीताने बिगड़कर कहा, " जरा सबर कर, 'कौन' ?" फिर तुरन्त ही नर्म पड़कर हँसते हुए उसने जोडा, " अभीसे उतावली मत पड़।"

श्रीकान्त हँस ही रहा था और हँस पडा।

" तो जीजी, " सव्यंग सत्या बोली, " इसमें डरनेकी क्या बात है ?"

सच यह कि सत्या इस दुनियामें बड़ी डरनेवाली लड़की है। छिपकलीसे, चोरसे, भूतसे वह बहुत डरती है, और आदमियोंसे भी डरती है। पढ़ती तो है, लेकिन गाड़ीमें कॉलेज जाती है और घरके भीतर माँ-बापके लाड़के बीच रहती है। सो, डर उसमें सारी चीजोंका बना है। इससे यदि बाजारको या बाहर जानेके लिए किसी कामको कह दो, तो वहीं उसे डर लग आता है। अनजान कोई आदमी

हो, उसके सामने सहम रहती है। तभी तो उसने कहा, "तो जीजी, इसमें डरनेकी कौन-सी बात है?"

जीजीने उसे बाँहसे पकड़ लिया, कहा, "अच्छा, डरनेकी बात नहीं है, तो चल। चल, तुझे बताऊँ।"

सत्या बहुतेरी 'नहीं नहीं' करती रही, पर उसे हरिप्रसन्नके सामने खींच ले जाकर सुनीताने कहा, "देखिएजी, यह मेरी छोटी बहन सत्या है।...आपसे सन्तरा नहीं छिला है, तो यह छील देगी। सेकिंड-इयरमें पढ़ती है।"

इतनेमें ही श्रीकान्त भी कमरेमें आगया। उसने कहा, "तुम कितनी देरके यहाँ हो हरि? सवेरेसे कहाँ रहे?"

हरिप्रसन्न चारों ओरसे इस प्रकारकी आत्मीयताके बीचमें अपने जीवनमें अभी कहीं घिर पाया नहीं है। इससे ऐसी हालतमें वह कुछ खोया-सा रह गया है। बातचीतमें वह घाटेमें नहीं रहता, पर जहाँ किसी विशेष विषयकी चर्चा ही नहीं हो, किसी प्रकारके बुद्धि और चातुर्य-प्रयोगका अवकाश ही न हो, अर्थात् विद्वन्मण्डली न होकर घरेलू मण्डली हो, वहाँ वह ऋण न हो रहे तो क्या हो? क्योंकि वहाँ बातें प्रत्यक्ष हृदयसे होती हैं, इससे अधिकतर मूर्खताकी होती हैं। और वह जिस दुनियामें, अथवा जिस भावसे दुनियामें, रहता आया है, वहाँ सब कोई हृदयको बाद देकर बुद्धिमानीके साथ योग्यतापूर्ण बात करनेकी चेष्टामें रहते हैं।

उसने कहा, "मैं अभी आया था।"

"तुम्हें मालूम है" श्रीकान्तने कहा, "आज सिनेमाकी ठहरी है? चलोगे न? और यह उनकी बहन सत्या है। तुम्हें लगता होगा, जाने कितनी होशियार होगी। इसी भूलभुलावेमें इसने एफ़० ए० में गणित ले लिया है। पर अब बुद्धि चक्करमें है। सच, यह विषय भी क्या है! लकीरों, अकों और बीजोंकी मार्फत दुनियाको समझो, उसे आयत्त करो—क्यों भाई, तात्त्विक दृष्टिसे यही तो उस विज्ञानका उद्देश्य है? लेकिन यह एकदम दुनियाको समझनेके उद्यमकी मनहूस पद्धति है। सो, तुम जानते ही हो, हमने तो उस गणितसे रास्ते चलतेकी जय-रामजीसे अधिक जान-पहचान नहीं बनाई है। तुम्हीं कहा करते थे, वह 'प्योरेस्ट साइन्स' है। तुम्हारा वह प्यारा विषय था। सो भाई, इस सत्याके गणितको सँभाल दो। और कुछ अँग्रेजी भी बता दिया करना। बोलो—?"

हरिप्रसन्नने उस सत्याकी ओर देखा। वह ऐसे खड़ी है जैसे उसे किसी षड्यन्त्रका पता नहीं है, और वह शिकार बननेको तैयार है। उसकी गढनमें

कोमल नवनीत ही है, और कोई पदार्थ नहीं है। और वह नवनीत ही उन आँखोंमें है। उसके पास न अभियोग है, न फरियाद है। वह खड़ी है कि— 'अच्छा, कर लो जो करो। कह लो जो कहो। मैं तो बोलती नहीं।'

उसने हरिप्रसन्नकी ओर देखा। परोक्षमें जीजाजीसे उसका परिचय पाकर दाढीकी बातपर वह हँसती आ रही थी। एक आदमीके दाढ़ी है, और वह अभी अपनी बहनके घर पहुँचनेपर उसे मिलेगा, और वह अरे! उसका मास्टर होनेवाला है, और जीजाजीका पुराना दोस्त है—उसके दाढ़ी!—यह कल्पना रह रहकर उसमें हँसीकी फुहार छोड़ती थी। पर उस आदमीको सामने पानेपर उसकी दाढीमे उसे हँसी नहीं रही, अप्रसन्नता हो आई। वह दाढ़ी अब उसे अरुचिकर ही लगी, हास्यकर होकर तनिक भी नहीं लगी।

और वह खड़ी है कि—'हाँ हाँ हाँ, मैं हूँ गणितमें कमजोर। और कोई पढ़ाएगा तो मैं पढ़ लूँगी। पर—'

श्रीकान्तने कहा, "बोलो। तुम तो चुप रह गए।"

सुनीताने कहा, "हाँ हाँ, उसमें बोलनेकी क्या बात है, पढ़ा क्यों न दिया करेंगे! देखिए"—हरिप्रसन्नकी ओर देखकर उसने कहा, "आप कहें न कहें, यह बात पक्की हो गई। और देखिए, उसके बाद आप खाली हैं कि दुनियाको आप जैसा चाहे तोड़ें मोड़े। खाली हाथ और खाली पेट तो दुनियाका कोई भी काम नही हो सकेगा।"

हरिप्रसन्नने कहा, "मैं तो खुद एफ्० ए० पास नहीं हूँ।"

"खैर—खैर," श्रीकान्तने कहा, "यह मुझे सब मालूम है। और यह पक्का जब हो गया तो अब हम बात करेंगे कि जनताके लिए क्या करना होगा। कहो, इतना तो ठीक हुआ न?"

"अच्छी बात है। लेकिन पक्की बात कल कहूँगा।"

"कल?" श्रीकान्तने कहा, "चलो कल सही। क्या बज गया? पौने छः? तो चलना चाहिए। क्यों?"

"सत्या!" सुनीताने कहा, "भागकर एक टॉवेल तो भीतरसे ले आ। ये फल साथ ले चलेंगे। (हरिप्रसन्नसे) आपने यह कुछ भी तो खाया नहीं। अब चलिए, वहाँ खाइएगा।"

सत्या चली गई और हरिप्रसन्नने निरर्थक रूपसे कहा, "नहीं नहीं—"

"उठोजी", श्रीकान्तने बाँहमें हाथ डालकर कहा, "चलो, चलें। नहीं नहीं,

सन्तरा यह छोड़नेकी जरूरत नहीं। तुम्हें भारी हो तो लाओ मैं ले लूँ। " और सन्तरा उठाकर हरिप्रसन्नको वह बाहरके कमरेकी ओर ले चला। कहा—" देखो, तुम लोग भी जल्दी आओ। वक्त ज्यादा नहीं है। इतने हम बाहर हैं। "

दफ्तरके कमरेमें कुर्सीपर बिठाकर श्रीकान्तने कहा, " देखो हरी, आज ही हम सोच रहे थे। उसी समय तुम्हारी भाभीने यह सत्याकी टयूशनकी बात सुझाई। बाबूजी पैंतीस रुपये दे देंगे। यह बात तो यों हल हुई। "

हरिप्रसन्नने यत्नपूर्वक कहा, " यह क्यों समझते हो कि टयूशनका काम मुझे पसन्द ही होगा ? "

" तो क्या, " श्रीकान्तने कहा, " मैं यह भी समझ सकता हूँ कि पसन्द नहीं होगा ? "

" हाँ, मैं उत्पादक श्रम चाहता हूँ। "

" उत्पादक श्रमके लिए दिनके और घण्टे हैं। उत्पादक श्रमका यही तो अर्थ न कि किसी ठोस पदार्थको ठोक पीटकर उसे प्रयोजनीय बनाओ। लकड़ीको लेकर किवाड़ बना दिया, मिट्टी या धातुको लेकर बर्तन बना दिया, रुई लेकर कपड़ा या कपड़ेके अर्थ कुछ और प्रयोजनीय वस्तु बना दी, खेत गोड़कर नाज पैदा किया,—यही तो उत्पादक श्रम है ? "

" लेकिन मै अपनी जीविका भी उसीमेंसे पाना चाहता हूँ। "

" यानी जीविकाके अर्थ श्रम करना चाहते हो, श्रमके अर्थ श्रम नहीं। "

" नहीं नहीं, मैं शारीरिक अस्तित्वके लिए शारीरिक श्रमपर निर्भर रहना चाहता हूँ। पढ़ानेके काममेंसे जीविका पाना मैं ठीक नहीं समझता। "

" मुझे समझने दो। अगर एक घण्टेके श्रमने तुम्हे पर्याप्त साधन जीनेके दे दिए, तो शेष घण्टोंके लिए तुम श्रमहीन होनेके अधिकारी हो सकते हो ? "

" यह बात नही। जिस श्रमका बदला आजीविकाके साधनके रूपमे, अर्थात् पैसेके रूपमें मिले, वह श्रम शारीरिक होना चाहिए। अन्य श्रम निश्शुल्क होना चाहिए। मै मुफ्त पढ़ा दिया करूँगा। "

" मुफ्त पढ़ा दिया करोगे ! " श्रीकान्तने झल्लाकर कहा, " नही, मैं इसके बिल्कुल खिलाफ हूँ। बाबूजीका कुछ तुमसे लेना नहीं आता कि वह मुफ्त पढ़वाएँगे। प्रतिफलकी ओरसे अनपेक्षित रहकर श्रम करनेका तुम्हे शौक है तो क्यों नहीं शारीरिक श्रम मुफ्त करते ? क्यो नहीं अपने लिए आवश्यक पैंतीस रुपये टयूशनसे पाकर शेष समय उत्पादक श्रमको दान कर देते ? "

"यह नहीं किया जा सकता" तर्कपूर्वक हरिप्रसन्नने कहा, "शारीरिक श्रमका दान करनेसे श्रमियोंके वर्गका भला न होगा और प्रचलित मूल्योंमे एक साथ गड़बड़ हो जायगी। किसी प्रकारकी गड़बड हो, यह सर्वथा अनुपादेय नहीं, पर शारीरिक श्रमका मूल्य गिर जाय और पैसा श्रमका न रहकर धूर्त चातुर्यका हो जाय, इस प्रकारकी गड़बड हितकर न होगी। इससे मैं कहता हूँ कि अपनी रोटी मुझे अपने पसीनेके बल कमानी चाहिए, और ऐसा हो लेनेपर पढाना या और सेवा-कर्म करना चाहिए।"

श्रीकान्त झींक उठा। अवश्य हरिप्रसन्नके प्रति उसके अन्तःकरणकी आस्था हृष्ट और पुष्ट हुई, पर उसके हृत्तलपर विक्षोभ भी हुआ। उसने कहा, "हरी, तुम पागल हो। मैं कुछ नहीं जानता, तुम अपने जीकी कर सकते हो।"

हरिप्रसन्न क्यों इस समय दैहिक श्रमपर इतना दृढारूढ हो बैठा है, यह वह स्वय अपनेमें टटोलकर नहीं पा सका। पर यह बोध उससे न छूट सका कि वह दृढता सोलह आने खरी नहीं है, कि कहीं पेंदीकी ओरसे वह सदिग्ध है, वहाँ उसमें मिलावट है।

उसने कहा, "लेकिन, मैं पढ़ानेसे तो नहीं मुडता हूँ। तुम्हारी सालीको पढ़ाकर मुझे खुशी ही होगी।"

और उसके चित्तमें उदय हो आई वह सत्या जो हँसी बखेरती आई थी, पर जिसकी हँसी उसने देखी नहीं, केवल सुनी ही। और जो मानों खडी है कि—'जो कहो, जो हो, मै पढ लूँगी।'

"जी हाँ", श्रीकान्तने कहा, "बाबूजी ही तो हैं कि मुफ्त आपसे पढ़वाएँगे!" और जोरसे कहा, "अरे आई नहीं! जरा सुनो तो।"

सुनीताने आकर पूछा, "क्या बात है?"

"सत्या क्या बना रही है?" श्रीकान्तने कहा, "आती है कि नहीं। और सुना कुछ तुमने? हरी बाबू सत्याको नहीं पढा सकेंगे।"

"क्या? क्यों?" सुनीताने हरिकी ओर बिना देखे पूछा।

"इन्हींसे पूछो," सुनकर सुनीताने उस ओर देखा।

हरि जाने क्या होने लगा। सुनीताके अधिकार-भावमें जैसे ऐसी निश्शङ्कता है कि उसमें आपत्ति उठानेकी जगह हरिके लिए भी नहीं है। "मैं चाहती हूँ, तब भी यह न होगा? क्यों जी, अब भी तुम कह सकते हो, 'न होगा'? अब जरा कहिए तो कि 'न होगा'!" यह कहती हुई उन आँखोंकी ओर

देख-देखकर हरी जाने क्या होता गया। उसने कहा, "भाभी, मैंने इन्कार तो नहीं किया।"

सुनीता भी इस क्षण जाने किस धरातलपर उठ गई। उसके लिए असंभव ही हो गया कि कहे 'आप'। इस आदमीके लिए उसमें 'आप' कहीं रह ही न गया। उसने कहा, "तुम इकार करना भी क्यों चाहोगे? तो तमाशेमे हम चल रहे हैं न? सत्या, सत्या!"

हरि जैसे भूल चला कि उसके और इस नारीके अतिरिक्त और भी कुछ यहाँ है। उसने कहा, "भाभी!..."

"नहीं नहीं," सुनीताने निश्चयपूर्वक हाथ हिलाकर कहा, "उस बारेमे अब कुछ कहने-सुननेको नहीं है। (श्रीकान्तकी ओर) चलो जी। इतनी देर तो हो रही है। (बाहरकी ओर पुकारकर) अरी सत्या, ओ सत्या! चलना है कि नहीं?"

और श्रीकान्त चुप रहा, देखता रहा कि हाँ, हरिप्रसन्न परास्त, पुचकारा-सा बैठा है।

उसने भी कहा, "हरी, अच्छा अच्छा, अब चलो उठो।"

और उधर सत्या आई, इधर हाथ पकडकर श्रीकान्तने हरीको उठा लिया।

१८

अँधेरे हालमें सामने चित्र-पट-पर जो होता हुआ दीख रहा था हरिप्रसन्न उसे देखता रहा। पर उसका मन वहाँ न था। उसके पासकी कुर्सीपर सुनीता बैठी थी और उसके मनमें होता था कि वह यहाँसे उठकर चला जाय। इतनेमें इण्टर्वल हुआ और हरिप्रसन्नने देखा: सुनीता पीछे कुर्सीपर सिर टिकाए अभी आँखें बन्द किए ही बैठी है, मानो कहीं और हो। और श्रीकान्त उसके कन्धोपर शाल ठीक कर रहा है। सुनीता उस ओरसे उदासीन है। श्रीकान्तने बड़े प्रेमसे शाल उसे ठीक ठीक उढ़ा दिया है, उढ़ाकर पूछा है, "सुनी, देखो सर्दी न लगा लेना। पानी वगैरह कुछ चाहिए?" सुनीता इसपर कुर्सीपर ठीक हो बैठी है जैसे जागकर आँख खोली हो, और ज़रा हाथ हिला देकर जतलाती है, "तुम्हारी कृपा है, कुछ नहीं चाहिए।"

"सोडा? चाय?"

"नहीं, कुछ नहीं।"

इसपर श्रीकान्त कुर्सीके पीछे सुनीताके कन्धोंमें बाँहें डालकर चित्रके बारेमें, या जाने किस बारेमें, बात करने लगा है।

उस समय हरिप्रसन्न अपने आपमें पड़कर मन ही मन जाने कैसा अनुभव कर रहा था। वह इन लोगोंके बीचमें मानों अपना होकर भी अपना नहीं है। वह दूर है, दूर है!

सत्याने कहा, "जीजाजी, यहाँ पानी मिलेगा?"

श्रीकान्तने कहा, "हाँ, जरूर मिलेगा। लेमन मँगाऊँ?"

सत्याने धीरेसे कहा, "चाहती तो पानी हूँ।"

हरिप्रसन्न उस अवसरको लपक लेकर उठा, बोला, "मै ला देता हूँ पानी।"

श्रीकान्तने उठते हुए कहा, "अरे, तुम कहाँ पानी लेने जाओगे। बैठो बैठो।"

"मैं अभी लाए देता हूँ" और इससे पहले कि उसकी भाभी सुनीता कुछ कहे, हरिप्रसन्न अपनी जगह बनाता हुआ हॉलसे बाहर निकल गया।

सुनीता चित्रको देखकर पतिके प्रति पीडाग्रस्त हो उठी है। वह पतिके जैसे निकट आगई है, पर नहीं जानती कि उनके हाथों अपनेको कैसे दे। स्वामीने उसे चुपचाप शाल उढा दिया है, उन्हें चिन्ता है कि उसे सर्दी न लगे, और वह सच, उन स्वामीकी ही है, उनकी अतिशय कृतज्ञ है। पर, वह मीराबाईको समझना चाहती है। मीराके पतिकी ओरसे वह मीराको भर्त्सना भी देना चाहती है, फिर भी मीराको समझना चाहती है। मीरा प्रतिव्रता बिना हुए भी, अरे क्यों उसकी श्रद्धा-भाजन बनी है? वह अपनेसे पूछती है, 'अरे क्यों? अरे, क्यों?' पति ही तो परम श्रेय हैं। उन्हें छोड़, उनसे विमुख और किसी और ही ओर उन्मुख होनेपर भी मीरा लाछित क्यों नहीं है? वह अपनेसे झगड़कर चाहती है, मीराको खण्डिता और लाछिता ठहरा दे। किन्तु मीराके प्रति उसके भीतरका स्नेह और वेदना उमडी ही आती है, भरी ही आती है। वह मीराको समझ लेना चाहती है। मीराको, जो राणाकी रानी है पर जो राणाको भूलकर और रानीपनको बिसारकर जाने किस साँवलियाके पीछे कैसी न मदमाती बन गई है!. सुनीता उस मीराको पा लेना चाहती है। उसका मन पतिके लिए विह्वल पीड़ासे भर गया है। इसलिए जब उससे पूछा गया—'कुछ चाहिए?' तब तनिक आँख उठाकर उन आँखोंमें भरी उसने अपनी दीन कृतज्ञता ही सामने बिछा दी, मानो कहा—तुम्हारी कृपा क्या कम है? उसके आगे और मुझे कुछ नहीं चाहिए।

"सोडा? चाय?"

" नहीं, कुछ नहीं । "

पतिमें क्या उसे प्राप्त नहीं है ? पर उस मीराको वह समझना चाहती है जो पतिमें सब श्रेय पा लेनेके कर्तव्यसे छूट गई । मीराके लिए दो बूँद आँसू डालकर वह पूछना चाहती है, ' अरी प्रेममयी, तैंने वह कौन-सा प्रेम पाया जिसने तुझे कठिनता दी कि पतिके हृदयकी पीड़ाको तू बिना पिघले सह ले। अरी, तू किस भयङ्कर प्रेमको दुनियाको दिए जा रही है, जो अपने पतिके जीको तोड़ता है और उसको टूटते देखकर भी वह प्रेम प्रेम ही रहता है। ओ मीरा, तू अपने मनकी बिथा मुझे पाने दे। मैं भी आज घोर बिथा पाकर अपने ऊपर झेल लेना चाहती हूँ। वह बिथा, जो अपने आनन्दकी तौलके ही बराबर है, नहीं तो शेष सबसे भारी है।'

उसने पाया कि, पीछे उसके कन्धोंमें बाँह डालकर प्रेमसे पतिने पूछा है—
' सुनी, तस्वीर अच्छी लगी ? '

सुनीताने बहुत धीमे स्वरमें कहा—हाँ।

" बहुत अच्छी तस्वीर है। "

सुनीताने और धीमेसे कहा—हाँ ऑ।

" मीराका पार्ट बहुत अच्छा निभाया गया है।"

सुन न पड़े ऐसे सुनीताने कहा—हाँ—आँ-ऑ।

" और राणा कुम्भ . सुनीता, मैं समझता हूँ, उसकी मनकी वेदना ही कहानीकी जान है। "

सुनीताने मानो फिर भी कहा ही—हाँ...

" सुनीता, मीराके लिए राणाका विषका प्याला भेजना मै समझ सकता हूँ। धर्म-विद्वेष मै समझ सकता हूँ। मीराको तोपसे उड़ा दे, तो भी मैं उसकी व्यथाको समझ सकता हूँ। प्रेम ही क्या जीवन नहीं है ? उससे वञ्चित होकर व्यक्ति कैसे न जड़ हो जाय ? सुनी, राणाके लिए तो बिलकुल पागल हो जानेकी बात है। मैं तो उसकी इसी दृढतापर स्तम्भित हूँ कि वह निर्दय होकर ही रह गया। "

वह सब सुनती गई। जो दीखनेको था वह भी देखती गई। उसे मालूम हुआ कि सत्याने पानी चाहा है और हरिप्रसन्न पानी लेने चला गया है। पर फिर भी, सब देखकर, सब सुनकर, वह उस समस्तसे अलग, अछूती, ऊँचेपर ही कहीं रहे रही।

" सुनीता, लेकिन कृष्ण वनवारीकी मूर्तिकी वह भक्ति जो व्यक्तिको सब कर्त्तव्योंसे विमुख कर दे और उस अकृतज्ञताको औचित्य भी प्रदान करे, मेरी समझमें नहीं आती। मीरा मेरी समझमें नहीं आती। "

सुनीता तो सुननेकी स्वीकृतिमें कहती ही गई—हाँ ..

" सुनीता तुम्हें क्या हुआ है? बोलो, तुम कुछ वह अनुभव करती हो जो समस्त लौकिक कर्त्तव्योंसे तुम्हें मुक्त कर दे? यदि ऐसा कुछ है, तो उसका बहिष्कार ही करना होगा। "

" हाँ . "

" हाँ, नहीं। कुछ कहो, सुनीता! "

सुनीताने आँख ऊपर उठाकर स्वामीको देखा। वे आँखें आधी खुली, आधी झँपी थीं। वे शनैः शनैः और और खुलती गईं, मानों जो वह कह रही है, जाननेसे अधिक उसे देखती है। उसने कहा—

" अलौकिक ही कुछ हो सकता है, जो तो लौकिकका आधिपत्य अस्वीकार कर दे। बुद्धि अतीत जो है, उसे चलनेके लिए बुद्धिके पैर और तर्कके स्टेप्स नहीं काम देंगे। इससे मैं सहमत हूँ कि लौकिक तो अलौकिकका बहिष्कार ही करे। पर अलौकिक इससे असत् न हो जायगा। मीरा दस-बीस नहीं हुई हैं, इससे लौकिकको निश्चिन्त रहना चाहिए कि अलौकिककी लौकिकपर हावी होनेकी स्कीम नहीं है। मैं समझती हूँ, लौकिकके दिशा-दर्शन, मार्ग-दर्शनके हेतुसे अलौकिक यदा-कदा घटित होता है। बहिष्कृत तो उसे करना ही होगा, पर उससे चेतावनी भी ले लेनी होगी। मीराको समझती मैं भी नहीं हूँ, पर समझती हूँ, वह समझी जा सकती है। मीराके हृदयको राणाके हृदयके प्रेमकी व्यथासे कहीं उत्कट प्रेमकी व्यथाको धारण रखे रहना पड़ा—क्या तुम यह नहीं मानते? "

श्रीकान्तने जोरसे कहा—नहीं।

सुनीताने हौले-से पलक गिरा लेकर कहा, "तब मैं तुम्हे कैसे मना सकूँगी?"

श्रीकान्तका हाथ सुनीताके कन्धोंसे हट गया। उसने कहा, "तुम कह सकोगी क्या कि राणाके प्रति मीराने अन्याय नहीं किया?—कि राणाके प्रति मीराने अप्रेम भाव नहीं दरसाया? अप्रेम अन्याय है। "

सुनीताने ऑखोंको लगभग बन्द करके हौले हौले स्पष्टतापूर्वक कहा, " मै तो इतना ही कहती हूँ कि राणाने अन्याय नहीं किया। यह मैं राणाकी ओरसे भी

कहती हूँ, मीराकी ओरसे भी कहती हूँ। राणाके मनकी व्यथाकी ज्वालामें जिन कृत्योंको क्रूर कहा जावे, वे ऐसे भस्म हो जाते हैं, जैसे यज्ञमें समिधा। मैं तो राणाके साथ रो ही सकती हूँ। पर मीराके साथ भी, मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाह लूँ। मीराके मनको जाननेपर मीराको दण्ड देने योग्य जी नहीं रक्खा जायगा।"

श्रीकान्तने सुनीताके हाथको अपने हाथमें लेकर भावावेगमें कहा—सुनीता!

सुनीताका शरीर मानों बहना चाहने लगा। उसने कहा—मुझे माफ़ कर दोगे?

श्रीकान्तने फिर इतना ही कहा—'सुनीता!' और धीमेसे अपनी गोदमेंसे उठाकर उसका हाथ उसीकी गोदमें रख दिया। वह हाथ निश्चेष्ट वहीं धरा रहा, और सुनीता विभोर, अभिभूत, सिरको पीछे कुर्सीकी पीठपर टिकाकर बैठ गई। तभी उसने सुना, हरिप्रसन्न कह रहा है—पानी लीजिएगा?

उसने आँखे खोलीं। उसे यह अच्छा नहीं लगा—'पानी लीजिएगा?' जैसे यह कहीं कृत्रिम है। बोली—हरि बाबू, पानी लाए हो? लेकिन सर्दीमें क्या पानीसे ख़ातिर होगी?

हरिप्रसन्नने जवाब न देकर श्रीकान्तकी ओर बढकर कहा—आप लीजिएगा?

श्रीकान्तने भी 'आप' पर कुछ विस्मित होकर कहा, "नहीं भाई, मुझे नहीं चाहिए।"

स्थितिमे जैसे कहीं कुछ सलवट आ पडी है। सुनीताने बढकर कहा, "सत्या, तैंने पानी पी लिया?"

सत्याने कहा, "हाँ, जीजी!" और फिर कुछ खटाईसे कहा, "पर जीजी, पानी कुछ खारी था।"

हरिप्रसन्नने पानीका कुल्हड़ हाथमें लिये लिये कहा, "तो इसे मैं फेंक दूँ?"

"फेंक क्यों दोगे?" सुनीता हाथ बढाकर बोली, "लाओ, मुझे दो।"

"लेकिन" हरिप्रसन्नने कहा, "आपको प्यास नहीं है।"

हँसकर सुनीता बोली, "नहीं नहीं, मैं भूल गई थी। मुझे प्यास है।" और हाथ बढाकर उसने हरिप्रसन्नके अनिश्चित हाथोंसे कुल्हड़ छीन लिया।

"खडे क्यों हो, बैठो हरि बाबू!"

हरिप्रसन्नने कहा, "मैं घर जाऊँगा। मेरी खेलमें तबियत नहीं लगी। और मुझे अब याद आया, बहुत सवेरे मुझे काम भी है।"

श्रीकान्तने कहा, "पागल हुए हो। बात क्या है, खेल ऐसा ख़राब तो नहीं है।"

"मुझे इजाजत ही दीजिए," हरिप्रसन्नने कहा, "देखिए, हुआ तो कल मिलूँगा। तभी ट्यूशनकी बातका जवाब दूँगा।"

"नहीं जी" श्रीकान्तने कहा, "आखिर आधे-पौने घंटेमें हम भी चलते हैं, ऐसी भी क्या तबाही है। खेल बेहद ही नागवार हो तो बहुत करो, आँखें मींच लेना।"

सत्या बोली, "आपको क्या है जीजाजी! कोई जाना चाहता है और किसीको काम है, तो वह क्यों नहीं जायगा?"

जाने सत्या यह सब किस तरह कह गई। और कह फेंककर एकदम चुप हो गई।

सुनीताको कुछ पकड़ न मिल रहा था। अकारण तो कहीं कभी कुछ होता नहीं। लेकिन यहाँ एकदम किस बातको कारण मान लेना होगा?

सुनीताने जोरसे कहा—'सत्या!' और सत्याकी ओर देखा तो सुनीता मुस्करा पड़ी। सत्याके चेहरेपर यद्यपि एक गहरी झेंपका-सा भाव था, फिर भी विनोद वहाँसे सर्वथा लुप्त न था। सुनीताने मनमें कहा—'हूँ!'

तभी खेलकी घण्टी बजी। हरिप्रसन्न सुनीताकी कुर्सीके बराबरकी कुर्सीके ही आगे खड़ा था। सुनीताने दोनों हाथोंसे उसकी बाँहको पकड़कर उसे कुर्सीमें बिठा दिया। कहा, "बैठो बैठो। देखते नहीं, खेल शुरू होनेवाला है?"

हरिप्रसन्न और कुछ न कर सका, कुर्सीमें धर ही गया। बैठते बैठते उसने कहा, "अच्छा भाभी, तुम्हारे लिए मैं बैठा जाता हूँ।"

"हाँ हाँ, मेरे लिए।"

'तुम्हारे लिए बैठ रहा हूँ' यह कह देकर और भाभीका उत्तर अपने भीतर लेकर, जिस स्थलपर उस भाभीके दोनों हाथोंने उसकी बाँहको पकड़कर बैठा लिया था वहाँ मानों उस स्पर्शको अब भी अनुभव करते हुए हरिप्रसन्न कुर्सीमें बैठा अपनेमें डूबता गया।

खेल शुरू हो गया और अँधेरा हो गया।

हरिप्रसन्नकी देहपर उस कोमल सबल स्पर्शने जो काँटे उठा दिए थे वे तो अब भी चुप बैठते नहीं हैं, सिहर ही रहे हैं। उसके गातमें रह-रहकर कँपकँपी-सी हो आती है। यह कौन नारी है जो दोनों मुट्ठियोंमे उसके शरीरको पकड़कर इस कुर्सीमें बाँध देगी जब कि वह स्वय जाना चाहता है? यह कौन है जो बिना अधिकार अपना अधिकार रखेगी? जब वह एककी पत्नी है तब दूसरेकी कौन है? कौन है, जो मनुष्यमें उद्धतता जगानेसे डरती नहीं है? क्या वह उसके

पुरुषोचित औद्धत्यका आवाहन करती है? अरे कौन है यह, जो सकुचितकी जगह स्वाभाविक है?...

उसने पाया, उसके कानके पास मुँह लाकर सुनीता कह रही है, "हरि बाबू, क्यों चले जा रहे थे?"

हरिने कहा—कुछ नहीं, कुछ नहीं...

सुनीताने कहा, "तुमने मुझे भाभी कहा है, हरि बाबू। मै तुमसे कहती हूँ कि कोई भागे क्यों? अपनी पीठकी तरफ कोई भाग सका है! तुम भी नहीं भाग सकोगे।...यह फिल्म तुम्हे बहुत बुरी लगती है?"

"नहीं नहीं ."

"हॉ, कोई चीज भी क्यों बुरी लगे। और बिना चित्रकी सहायताके मीराके नामपर तो चित्त यों भी भीग आता है। मैं तुमसे पूछती हूॅ, हरि बाबू, कि जब मैंने कहा है, तब तुम टयूशन क्यों नहीं ले लोगे? मैंने कहा है, क्या इसलिए?"

हरिने कुछ गुनगुनाया—हाँ—नहीं—

"सत्या स्वप्नशील लडकी है और उसके स्वप्नमें भावना भी है। इससे मैं समझती हूॅ, वह सृजन भी कर सकती है। भोगमे वह अभाव सृष्ट कर लेगी और सूने अभावके मध्यमें भरनेके लिए रग। तुम ऐसी लडकीको सहायता कर सको और उसके पिता तुम्हे बिना कुछ रुपए दिए यह सहायता न ले सकें, तो इसमें कुछ हर्ज है?—"

हरि, चुप, सुनता रहा।

"देखो हरिबाबू, तुम बडे हो। लेकिन हम लोग स्त्री हैं। हमारा यह काम है कि हम पुरुषको सामने भगावे। जब तक वह सामने भागता है, हम पीछे पीछे हैं। जब वह पीठकी ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती हैं। हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाय। पुरुष इस दायित्वसे भागना चाहेगा तो पीछे स्त्रीमें गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे आगे चलना होगा। पुरुषोंके इस अधिकारके आगे स्त्री कृतज्ञ है। किन्तु स्त्रीका भी यही अधिकार है कि पुरुषको पदच्युत न होने दे। हरि बाबू, मैं देखती हूॅ, तुम इन्कार न कर सकोगे। तुम जो सकटमें आगे रहे हो, जो आगे-पीछे संकटमे ही रहे हो, तुम पीछे नहीं भागोगे।"

हरिप्रसन्नने कहा, "भाभी, मुझे क्षमा करना। मैं देहली छोडकर चला जानेवाला हूँ।"

"क्या-आ ?"—सुनीताने कहा।

"मैं यही देखता हूँ।"—हरिप्रसन्न बोला।

सुनीताने कहा, "यह न होगा, हरिप्रसन्न। देखना, यह न होगा।"

१९

उसके बाद सुनीताने कुछ न कहा और मुँह मोडकर चित्रपट ही देखती रही। हरिप्रसन्न भी अपने आपमें हो रहकर सामने चल रहे चित्रमे लग पड़ा। वह हठ-पूर्वक मग्न भावसे चित्रकी ओर सलग्न रहनेके मानों सकल्पमें बँधा था। पर रह-रहकर उसके मनमें उठता था कि पासकी ही कुर्सीपर बैठी हुई नारीके एक हाथको अपने दोनों हाथोंमें लेकर धीमेसे पुकारकर कहे, 'भाभी, मैं हूँ। मै गया नहीं हूँ, मिटा नहीं हूँ, मैं हूँ।'

सिनेमा समाप्त हो गया और हॉलसे चलने लगे तब सुनीताने श्रीकान्तसे कहा, "अब रातको वह कहाँ जाएँगे ? उनसे कहो, घर ही न चले चलें।"

श्रीकान्तने कहा—'हाँ हॉ,' और आगे अलग अलग जाते हुए हरिप्रसन्नके पास पहुँचकर और उसका हाथ पकड़कर श्रीकान्तने पूछा, "कहो हरिप्रसन्न, खेल कैसा रहा ! तुम सुस्त क्यों हो ? पसन्द नहीं आया ?"

हरिप्रसन्न गुन-गुनाया—नहीं नहीं, अच्छा था।

"अब घर ही चल रहे हो न ? इतनी रात गए कहॉ जाओगे ?"

हरिप्रसन्नने कहा, "नहीं, मैं अपनी जगह ही जाऊँगा।"

श्रीकान्तने आग्रहपूर्वक कहा, "कोई खास काम हो तो और बात है। नहीं तो जैसा वहॉ सोना, वैसा घर सोना।"

"हॉ-ऑ, लेकिन मैं अपनी जगह ही जाऊँगा।"

सुनीता और सत्या पीछे पीछे आ रही थीं। सुनीताने पुकारकर कहा, "हरी बाबू, हमारे साथ ही चल रहे हैं न ?"

सत्याने सुनाकर कहा, "तो जीजी, यह बीचसे ही उठकर चले नहीं गये थे ? मैं तो समझी थी कि .."

आगेसे श्रीकान्तने कहा, "यह तो अपनी जगह ही जानेकी कह रहे हैं।"

सुनीताने बढ़ आकर पूछा, "क्यों-ओं, हरि बाबू ?"

हरिप्रसन्नने धीमे-से कहा, "वहीं ठीक रहेगा।"

सुनीताने कहा, "अच्छा। कल दोपहर घर आइएगा ? ये तो होंगे नहीं, पर

सत्याकी कल छुट्टी है। कल दोपहरके बाद एक या दो बजे आएँगे ?"

हरिने हठात् मुस्कराकर कहा, "देखिए।"

"देखिए क्या। तो नहीं आ सकेंगे ?"

"आया तो आ ही गया। नहीं तो—भरोसा यहाँ किसका कीजिए।"

"नहीं," सुनीताने दृढ होकर कहा, "कल आइए। हाँ तो कुछ पहले ही आ जाइए। भोजन हमारे यहाँ ही कीजिए। और कुछ सत्याका पढना-बढना देखिएगा। यह सत्या कह रही है कि, 'फिर आप खेलके बीचमेंसे ही चले नहीं गए थे।' वह इसपर आपको...क्योंरी सत्या, यह क्या करती है?" बात यह थी कि सत्याने जीजीके पीछेसे जोरसे एक चिकोटी भर ली थी।

"भाभीजी," हरिप्रसन्नने कहा, "यही समझिए कि मै आऊँगा। नहीं आ सका, तो क्षमा करनेको तैयार रहिएगा।"

"और नहीं तो क्या दण्ड देनेका अधिकार मुझे मिला है, कि क्षमा नहीं करूँगी ? हाँ, अगर आप कहें कि दण्ड मैं आपको दे सकती हूँ, तो अवश्य क्षमा करना मैं आपको पसन्द न करती।"

"अच्छी बात है, दण्ड दे लीजिएगा।"

श्रीकान्तको विना बीचमें लिये भी हरिप्रसन्नकी सुनीताके साथ इतनी बातें हो गई, कहे कि यह श्रीकान्तको अच्छा ही लगा। उसने देखा कि सुनीता वाक्शून्य नहीं है, वह भली प्रकार सवाल-जवाब कर लेती है। और न वह रूखी है, न फीकी है। अपनी बातमें वह रस ले भी सकती है, दे भी सकती है। यह अनुभव जैसे श्रीकान्तको बहुत दिनो बाद हुआ और नवीन लगा। यह भी कहें कि यह अनुभव उसे प्रिय लगा। उसे लगा कि जीवन नीरस रहे, यह आवश्यक नहीं है। यह कि सचमुच हरियाली उनके बीचमेंसे बिल्कुल निर्मूल नहीं हो गई है।

उसने कहा, "हरि, धर्मशालावाला मकान छोड़कर तुम अगर हमारे यहाँ नहीं रहना चाहते, तो एक निजी किरायेका मकान कल ही ले लो। शामको कचहरीसे लौटनेपर तुम घर मिलोगे ना। बस, तब हम दोनों मकान ठीक करने चल देंगे। क्यों ?"

"हाँ-आँ।"

ताँगेमे बैठते बैठते सुनीताने कहा, "तो कल ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे—"

हरिप्रसन्न ताँगेके पीछे सुनीताको देखता धरतीपर खड़ा रह गया। वह

क्या कहे ? सुनीताने फिर कहा, " आइएगा न ? "

पर, हरी क्या कहे ? क्या कहे ?

और उसने वहाँ सामने भाभीके पास ही बैठी सत्याको भी देखा, जो दोनों पतले पतले ओठोंको भींचे बैठी है, जैसे कि मुँहके भीतर कुछ वस्तु है, जो फूटकर खिल-खिलाती निकल ही आना चाहती है, और उसीको भीतर बरबस मूँद रक्खा है।...वह क्या कहे ?

ताँगा चला। उन दोनोंने दोनो हाथोंको मिलाकर नमस्कार-सा किया।

सडकपर खडे-खडे हरिप्रसन्नने भी वैसा-ही-सा कर दिया।

श्रीकान्तने अपनी जगहसे ही पुकारकर कहा, " गुडनाइट ! " अनायास उसके मुँहसे भी ध्वनित हुआ, " गुडनाइट ! "

और ताँगा चला गया।

पैदल चलकर हरिप्रसन्न अपने स्थानपर आ गया। धरतीपर बिछी चटाईपर अपना सक्षिप्त बिस्तर डालकर, मोमबत्ती जलाकर, चाहने लगा, सोये। पर नींद आती नहीं है, और वह सोचता है, क्या करना होगा। सुनीता नामकी एक स्त्रीने जिसको कह दिया, न होगा, वह क्यों न होगा ? वह किस अधिकारसे ऐसा कह दे सकी ? वह कौन है ? कौन है ?

वह सोचने लगा कि स्त्री क्या है, पुरुष क्या है ? इस जीवनमें चलकर पहुँचना कहाँ है ? किससे भागना है, और किसकी ओर भागना है ? नाते क्या हैं और विवाह क्या है ? और यह कम्बख्त क्या चीज है, जिसको प्रेमका नाम देकर आदमीने चाहा, बाँध दे, पर जो वैसे ही न बँध सका जैसे वृक्षसे आँधी नहीं बँध सकती। . वह क्या है, कौन है ?

वह चाहने लगा, कुछ समाधान उसके पास आये, कुछ सान्त्वना। पर उसको सब कुछ झमेला ही दिखाई दिया और धीरे धीरे उसके पास नींद आ गई।

२०

सत्या रातको अपनी बहिनके ही यहाँ रही। सुनीताकी इच्छा थी कि जब अगले रोज हरिप्रसन्न आए तब सत्याको वह उसके सामने कर दे। सत्याको पढ़ानेसे हरिप्रसन्न विमुख होगा, यह उसके मनमें नहीं जमता था। और सोचती थी कि सत्या और हरिप्रसन्नके बीचके सकोचको उठा दिया जाय तो क्या एक पन्थसे दो काज नहीं सिद्ध हो जायँगे ? इस विषयमें उसमें स्त्री-सुलभ उत्सुकता थी।

यह था पर उसका जी भीतरसे हल्का न होता था। वहाँ जैसे कोई प्रश्न उलझ गया था। वह मानों विश्वस्त होकर भी सदिग्ध थी कि हरिप्रसन्न सीधा चलता हुआ उसकी स्कीममें आ मिलेगा। और सिनेमा-हॉलकी हरिप्रसन्नकी विमनस्कता अब भी ठीक तरहसे उसकी समझकी पकड़में न आ रही थी।

उसका हृदय उसे बताता था कि यह आदमी हरिप्रसन्न जितना है, उतना ही नही है। साहसिक हो, पर भीरु भी है। निश्चिन्त दीखता है, पर वेदनासे अछूता भी नहीं ही है। उसमे वेदना है, वेदना है—सुनीताका मन उसे दोहरा-दोहराकर मानों यह सूचना देता था। किसको लेकर वह वेदना है?—इस बारेमे भी जैसे उसके मनके भीतर कुछ पता था। फिर भी मानों उसका पूरी तरह लेखा-जोखा वह खोज लेना चाहती थी।

वह सोचती थी कि उसकी बहिन सत्या बुरी लड़की नहीं है। और इस हरिप्रसन्नमे जो प्राणोंकी बेचैनी है, उसको भी एक लगामकी जरूरत है। बडे बाल और अन-सॅवारी दाढी-मूँछका बखेडा कोई बखेड़ा नहीं है, चुटकी-चुटकीमें वह तो सब दूर हो जायगा। फिर तो असाधारण और आवारा वह नहीं दीखेगा। और तब उसके भीतरकी गति सयत होकर उसे व्यावहारिक सफलताके मार्गपर ले बढेगी।

मुझे शका नहीं है कि मेल ठीक हो, तो गृहस्थ हरिप्रसन्न समाजके लिए बहुत उपयोगी हरिप्रसन्न होगा—उसने सोचा। लेकिन वह कहाँ कहाँ रहता है? क्या क्या करता है? क्या उसका भेद मैं पाऊँगी? क्या अन्तस्थ अभाव है और क्या तज्जनित प्रेरणा जो उसे दुनियामें यों बेखूँटे घुमाए जा रही है, चलाए जा रही है? किस रिक्तताको लेकर वह यों भटकता-भटकता अपनी पूर्णताकी खोजमें है?—यह भेद क्या मैं पाऊँगी?

आवारगीमें सुनीताको सदा एक प्रकारका आकर्षण रहा है। शायद इसलिए कि वह स्वय सदा घरमें घिरी रही है। दूरी दृश्यमें रुचिरता यों भी ला देती है। इस आवारगीके प्रति उसके मनमें सहानुभूति रही है, करुणा रही है। यह भी कह सकते हैं कि कुछ कुछ कलख भी रही है। वह चरित्र उसके मनके निकट अप्राप्त ही रह जाता है जिसके लिए सब घर डेरे हैं और कोई डेरा घर नहीं है। जो बिना दावे, बिना अधिकार यहाँ विचरण करता है। जो जैसा बाहर है, वैसा ही जेलमे है। जगत्के नाना द्रव्यों नाना मनुष्योंमेंसे जिसके लिए कोई द्रव्य सम्पत्ति नहीं है और कोई व्यक्ति जिसके लिए नातेदार नहीं है। जिसके लिए यहाँ

विशिष्ट कुछ है ही नहीं। सब सामान्य है; या, कह लो, सभी कुछ विशिष्ट भी है।

जो बिना परिग्रह, बिना गेह, नातोंसे टूटा, परिचयापेक्षाहीन, अतिथिकी नाईं विश्वमें डोलते रहनेको ही बना है—वह क्या है? विधाताने उसमें क्या अर्थ रक्खा है?

"लेकिन नहीं" सुनीता सोचती है, "हरिप्रसन्न निष्प्रयोजन निष्फल नहीं होने दिया जायगा। वह नहीं है इसके लिए। मैं जब अनायास उसकी भाभी बनी हूँ, तो मैं देखूँगी कि वह प्रयोजनयुक्त, नातों रिश्तोंसे भी युक्त, घरबारी और कारबारी होकर यहाँ रहता है।"

वह सोचती, स्त्री फिर किसलिए है, यदि पुरुषको प्रयोजन-दान, फल-दानमें नियोजित नहीं करती? क्या स्त्री इसलिए है कि पुरुषको अपनेसे निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृतिको वन्ध्या? क्योंकि दुनियाको रेगिस्तान नहीं होना है, क्योंकि उसको लहलहाकर हरियाली हो उठना है, इसीलिए'क्या पुरुषोंके इस जगत्में विधाताने हम स्त्रियोंको नहीं रचा है?—नहीं, नहीं, हरिप्रसन्न यों खुला ही खुला, छूटा ही छूटा, एक ही एक, कैसे रहने दिया जायगा?

अपने स्त्रीत्वसे लाचार बनी वह देखती है कि परम पुरुषका अभीप्सित यह नहीं है। निष्फलता ही जगत्का निष्कर्ष नहीं है, नकार सार नहीं है। मृत्यु यदि सत्य है तो तभी, जब जन्म उसके आगे है। जन्मपूर्वक ही मृत्यु जी सकती है।

आदि आदि उसने सोचा है और उसने सत्याको उपदेश-पूर्वक तैयार कर दिया है कि वह हरिप्रसन्नसे हँसी बहुत न करे, आज्ञाकारिणी रहे और शिष्टतापूर्वक उससे पढ़नेको राजी रहे। उसने मानों नये सिरेसे निश्चय कर लिया है कि सत्या बहुत ठीक लड़की है, और सुन्दर है, और सुशील है। उसने सत्याको काममें व्यस्त रखा है। उसको बराबर याद है कि आज हरिप्रसन्न दोपहरसे पहले ही यहाँ आ जावेगा, भोजन यहीं करेगा और यदि जाना पड़ा ही, तो रातसे पहले नहीं जा पावेगा।

श्रीकान्तने भी अनुरोधपूर्वक उससे कहा है कि जब अदालतसे वह लौटे, हरिप्रसन्न उसे मिलना ही चाहिए। ऐसा न हो कि उससे पहले वह किसी भाँति भी जाने दिया जाय।

सत्याके मनमें, किन्तु, इस आदमी हरिप्रसन्नके बारेमें कोई शिष्ट उत्सुकताका भाव नहीं है। वह हार्दिकताके साथ इस मनुष्यके विषयमें कुछ कर सकती है तो मुँह दाबकर हँस ही सकती है। कुतूहल है तो उसे यह है कि उसकी जीजी और

जीजाजीके मनमें उस व्यक्तिके लिए सौहार्द किस भाँति है। सत्याके मनमें तो उस आदमीको किसी तरह छकानेकी ही बातें उठती रहती हैं। उसका हृदय सहसा ही हरिप्रसन्नके प्रति विरोधी हो उठा है, और उसे यह नितान्त अयुक्त लगता है कि जीजीमें उस व्यक्तिके प्रति कुछ भी कोमल भाव हो। उसका मन बार-बार इस बातपर गया है कि हरिप्रसन्नके कानोंमें कहनेके लिए क्यों कोई भी बात जीजीके पास होनी चाहिए। सिनेमा-हॉलमें आखिर क्यों जीजी उसके कानके पास मुँह लाकर कुछ कहती रहीं!

उसकी बार-बार इच्छा होती है कि जीजीके आदेशानुसार हरिप्रसन्नके आनेकी प्रतीक्षामें वह जो खाने-पीनेके व्यञ्जन बनानेमें मदद दे रही है, सो क्यों न उन सबको बिगाड़कर रख दे! क्यों किसी चीजमें एक साथ ज्यादा मिर्च न झोंक दे और दूसरीमें नमक बिल्कुल छोड़े ही नहीं! लेकिन वह ऐसा कर नहीं पा रही है और मानो अपने विरुद्ध होकर सब कुछ बड़े यत्न और एहतियातके साथ वह बना रही है। बस, जीजीके बिना जाने अपने मनकी तो उसने एक ही बात की है—वह यह कि पिस्ते और इलायचियाँ चिपकाकर उसने मैदाके पेड़े और बर्फी बनाई है। वह उसने ऐसी कारीगरीके साथ बनाई है कि मजाल है कि वह बेढगा हरिप्रसन्न आकर एक साथ ही उन्हें मुँहमें न रख ले! तब सत्याने सोचा है, उस मूर्ख आदमीकी मूर्खतापर धोतीमें मुँह देकर वह खूब हँसेगी।

श्रीकान्त अपने साधारण खाने-पीनेसे निबटकर कचहरी जाने लगा तब कहा, "देखो, हरिप्रसन्नको ठहरा रखना। आज तीन केस हैं, इससे लौटनेमें थोडी देर भी हो जाय तो भी उससे कहना, वह ठहरे।"

सत्याने जाते जाते टोककर कहा, "जीजाजी, वह मुझे गणित पढ़ा भी देंगे?"

श्रीकान्तने हँसकर कहा, "आज उसका ख़ुद इम्तहान लेकर न देख लेना।"

सत्याने कहा, "मैं उन्हें फ़ेल भी कर सकती हूँ, जीजाजी? वह फेल हुए तो आप लोग मुझसे बुरा तो न मानेंगे?"

कह देकर सत्याको सोच हुआ कि उसने यह क्या बात कह दी।

सुनीताने बीचमें पड़कर कहा, "लौटते हुए कुछ फल लेते आना, भूलना नहीं।"

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा," और कहा, "देखो, आज सत्याको हरीकी जी खोलकर परीक्षा लेने देना। मैं यह तो नहीं जानता कि हरि प्रकाण्ड पण्डित हैं, लेकिन देखना है, सत्याकी हिम्मत कितनी है।"

कहते सुनते श्रीकान्त कचहरी चला गया और सुनीताने कहा, "सत्या, तू

खा-पीके निबट ले।"

सत्याने कहा, "और तुम जीजी?"

"मेरी क्या है? तू जल्दीसे खा पीकर निबट डाल।"

"नहीं, मैं तुम्हारे साथ ही खाऊँगी।"

"ऊँह, चल चल, ले थाली, बैठ!"

इसके ऊपर अब और क्या हो? थाली लेकर बैठते बैठते सत्याने फिर पूछा—और तुम?

"मैं? मेहमानसे पहले मैं खाकर बैठ जाऊँ?"

सत्या मनमें विद्रोही पड़कर अपनी थालीका खाना खाने लगी।

२१

किन्तु हरिप्रसन्न नहीं आया। बारह बज गया, एक बज गया, दो बज गया, वह नहीं ही आया।

अब तक प्रतीक्षा कर रही थी। अब उस प्रतीक्षाको तोड़-डालकर मानों झटक-कर सुनीताने अपनेसे दूर कर दिया। वह भूल गई कि हरिप्रसन्नके आने और खानेपर उसने अपना भी खाना स्थगित कर रक्खा था। जैसे कि उसे न याद रहा कि उसने खाना नहीं खाया है। अब तक चौकेमें जाकर वहाँ थोड़ा बहुत काम निकालकर ही कुछ न कुछ किये जाती थी। अब उसने चौकेको अपनेसे बिल्कुल भुला दिया। स्टडी-रूममें आकर पहले वह आराम-कुर्सीपर थोड़ी देर लेट रही, फिर सितार खोलकर उसे बजाने लगी।

इन बाजोंको छुए कितने वर्ष हो गये हैं! मानों वह दूसरा जन्म था। विवाहके इस ओर तो कभी जी भरकर इन यन्त्रोंके साथ उसे मन बहलानेको समय मिला नहीं है। आज वह उस भूले सितारको छेड़ उठी है।

सितारके सुर मिलाकर उसने बजाना आरम्भ किया। जाने भीतर क्या रुका था जो सितारके सुरोंमें बज उठा। उस सुरमें प्रणय भी नहीं है, अभियोग भी नहीं है। मात्र एक निवेदन जैसे है। उसमे शिकायत नहीं है, केवल उच्छ्वास है। सितारमेंसे किसके प्रति यह सङ्गीत उत्थित हो रहा है, वह नहीं जानती। वह तो बजाये जाती है। उस सङ्गीतके भीतरका प्राण उसकी आत्मामेंसे निकल कर सितारके तारके सुरके सहारे गूँज रहा है कि फिर इस शून्यकी गोदमें खो जाय। वह गूँजकर कमरेमें भर गया है। और, वह बजाये जा रही है।

हरिप्रसन्नके न आनेपर सत्याने इससे पहले जीजीको एकाध बार छेड़ा था। अब वह जीजीको इस भाँति पाकर डर-सी रही है। यह सत्या सगीतके सुरमे विभोर हो जाती है। अपने कॉलिजमे सबसे अच्छा वायलिन वही बजाती है। जीजीकी अँगुलियोंसे निकलते हुए इस सुरको सुनकर सत्या घबराने लगी। उसने सुनीतासे कहा, " जीजी, ओ जीजी, आज भूखी रहोगी? खाना न खाओगी?"

सुनीताने बजाते बजाते ही कहा, "सत्या चौका सँभालकर रख दे। मैं फिर खा लूँगी।"

सत्याने कहा, " नहीं जीजी, तीन बजते हैं। कोई बात है कि तुम भूखी हो। चलो खा लो।"

सुनीताने कहा, " अच्छा चल, मैं आई। तू इतने परोसके रख।"

जैसे बत्ती सोनेसे पहले एक साथ विस्फारित हो अतिशय उद्दीप्तिसे जल उठे, मानो वैसे ही सुनीताकी अँगुलियोंकी कठोर ठोकरसे दो एक अतीव सशक्त स्वर कॉपते हुए तारमेसे निकले। गूँजसे अधिक उनमें चीख थी। फैले नहीं, वे शून्यमे भरे अवकाशको चीरते हुए चढ़ते गए, चढते गए। दम रहा, तब तक चढते गए, कि अन्तमें दम हार, वे स्वर शीर्षसे गिरकर पातालमें आ, एकदम मूर्छित हो सोए।

सगीत चुक गया। तब सितारको सुनीताने धीमेसे अलग रक्खा और आहिस्तासे उठकर वह चल पड़ी।

मानों अब कोई बात नहीं है, अब वह हँस भी सकती है। यदि कुछ था, तो सितारमेंसे सुबककर वह चुक गया है। अब सब ठीक है।

सुनीताने चौकेमें जाकर कहा, " लारी ला, क्या क्या देती है? देखूँ, तू खाना बनानेमें कैसी हुशियार है?"

सत्या जीजीकी यह नितान्त स्वस्थ प्रकृति देखकर कुछ विस्मित हुई। कहा, " जीजी, तुम अब तक भूखी क्यों रहीं?"

सुनीताने कहा, " नहीं, भूखी क्यों रहूँगी? ला दे न, जो कुछ देना हो।"

सत्याने थाली परोसकर दे दी। उसने कहा, "मुझे तो पहलेसे उनका भरोसा नहीं हुआ था। देखो न, न आनेमें उनका क्या लगा? यहाँ मैं सवेरेसे उनके लिए तैयारियोंमें जुटी रही।"

सुनीताने धीमेसे कहा, " काम लग गया होगा।"

यह इतने धीमेसे उसने कहा कि जैसे स्वयं ही इस बातको नहीं सुनना चाहती।

मानों यह बात बिल्कुल व्यर्थ है, बहाना है। और यह कि वह जानती है कि वह बात बिल्कुल ग़लत है।

सत्याने कहा, "यह खूब, कि काम लग गया होगा। और वह क्या काम होगा, जो लग गया होगा, सुनूँ तो।"

सुनीताने मानो टालते हुए कहा, "अरे, मरदोंको दस काम होते हैं। और अब भी क्या पता है कि वह नहीं ही आते होंगे।"

सुनीताको जैसे अपने भीतर निश्चित पता है कि हरिप्रसन्न नहीं आनेहीके लिए नहीं आया है। इस बारेमें उसके मनमें दुविधा नहीं है।

सत्याने कहा, "उन्हें ऐसा ही जरूरी काम था तो वक्तपर कहला भेजना चाहिए था। अगर मेरे सामने आवें, मैं खूब सुनाऊँ।"

सुनीता हँसने लगी, "हाँ, सुनानेकी बात ही है।"

सत्याने कहा, "जीजी, सच बताओ, तुम समझती हो कि वे आयेंगे और कामकी वजहसे उन्हें देर हो रही है?"

सुनीताने कहा, "पागल, मैं क्या जानती हूँ कि क्या हो गया होगा। लेकिन तेरे पढ़ानेकी बातसे वह आदमी क्यों ख्वामख्वाह इतना नाराज होगा?"

सत्याने कहा, "जीजी, मैं कहे देती हूँ, मैं उनसे नहीं पढ़ूँगी।"

सुनीताने हँसकर पूछा, "क्यों?"

"मैं नहीं पढ़ूँगी।"

सुनीताने कहा, "अच्छा, अच्छा" और वह चुपचाप खाना खाती रही।

थोड़ी देरमें एक नौकर आया और उसने बताया कि घरपर अम्माजीका जी अच्छा नहीं है, पेटमें दर्द है, सत्याको बुलाया है, और कहा है, शामको सुनीता भी आ जाय।

सुनीताने कहा, "गाड़ी लाए हो?"

नौकरने बताया कि हाँ, वह गाड़ी लाया है, क्योंकि वहाँ सत्याको अभी बुलाया है।

सुनीताने कहा, "सत्या, जा।"

सत्याने कहा, "जीजी, तुम आओगी?"

"हाँ, कहना, मैं शामको आऊँगी।"

सत्या चली गई, तब सुनीता रसोईसे निबटकर स्टडी-रूममें आ पहुँची।

सच पूछो तो उसका मन आश्वस्त नहीं है। वह सोचती है कि वह

जायगी, तो पाँच सात रोज़ वहीं रहेगी। इस घरमें नहीं रहना चाहती। उसके मनमें शंका है कि हरिप्रसन्न अपना अनिष्ट कर सकता है। वह क्यों नहीं आया, जब कि मैंने उससे आनेके लिए कहा था? सुनीताके सम्मानको जैसे इस भाँति चोट दी गई हो। उसको यह बात चुटकी ले रही है कि इस आदमीने मेरी बातके ऊपर अपनी बात रक्खी। उसके मनमें हुआ कि फिर वह सितार ले ले और अपनेको कुछ ख़ाली करे। लेकिन सितारकी जगह उसने शेलीकी कविताकी पुस्तक ली और खोलकर कुर्सीपर लेट गई। पढ़ते पढ़ते उसकी आँखें बन्द हो गईं। हाथकी किताब भी बन्द होकर उँगलियोंमें टिकी रही। मानों वह यहाँसे कहीं और पहुँच गई थी। थोड़ी देरमें उसने आँख खोली और सामने किताब भी खोली। कवर पलटा, कि क्या देखती है कि उसके सामने अजनबी अक्षरोंमें लिखा है, 'श्रीमती सुनीतादेवी'। अक्षर दृढ़ हैं, साहसिक हैं और अलग अलग लिखे हैं। जिसने भी यह किया, सुनीताको उसकी स्वतन्त्रता बुरी लगी। उसने जान लिया कि यह हरिप्रसन्नका ही काम होगा। उसने किताब अलग कर दी और वह उठकर कमरेमें टहलने लगी। टहलते टहलते उसका ध्यान गया कि एक बिना जड़ी तस्वीर दीवारके सहारे टिकी खड़ी है। वह वहाँ क्यों है, उसे बाकायदा दीवारपर टँगा होना चाहिए था—यह सोचकर तनिक खीझमें उस ओर बढ़ी और उसे खींचकर उठा लिया। देखा कि अरे, यह तो वही तस्वीर है जो हरिप्रसन्न ले गया था। चित्रमें अपनी छवि देखकर सुनीताको बड़ा अचरज हुआ। अरे, सच, क्या वह इतनी मनोरम है, क्या वह ऐसी है? किन्तु उसने यह विचारकर हठात् सन्तोष माना कि नहीं, जब वह इस तस्वीर-जैसी थी, उसको बहुत दिन हो गए हैं। अब तो वह बिल्कुल मामूली है। 'चलो यह अच्छा है'—उसने हठात् मनमें कहा। तब उसका ध्यान गया कि नीचे उन्हीं अक्षरोंमें फिर उसका नाम लिखा है। इसपर फिर वह रूखी हो आना चाहने लगी। उसने तस्वीरको अलग कर दिया। वह न चाहती थी कि तनिक भी सोचे कि हरिप्रसन्नका क्या हुआ होगा। वह चाहे जो कर रहा हो। दिल्लीसे बाहर—तो हाँ, दिल्लीसे बाहर ही वह चला जावे। वह खूब अच्छी तरह जान लेना चाहती है कि हरिप्रसन्नकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। जब हरिप्रसन्नको नहीं है ख्याल उसकी बात रखनेका, तो सुनीताको भी उसकी जरा फ़िक्र नहीं है। उसने सितार खींचा और स्वर मिलाने लगी। वह फिर कुछ झंकार उठाएगी, जो गूँज-गूँजकर सब कहीं व्याप जाय। जो गूँजे और गूँजे, और थक जाय तब सो

जाय। अत्यन्त सबल रागमें उसने सितारको बजाया। यहाँ तक कि सितारके टूटनेका डर होने लगा। जितना खिंच सकता उतना तारको खींचकर वह उसमें मीड देती थी। मानों अपने भीतरकी झल्लाहटको, उस अकारण, अहेतुक खीझको वह इस प्रकार खींच निकालकर ध्वनिमें मूर्त्त करके भेज देना चाहती है कहीं दूर—कहीं पार। भेज देना चाहती है कहीं पार, वहाँ—जहाँ सब शान्त है, सब पूर्ण है, सब स्थिर है। सितारको लेकर मानों वह उत्क्रुद्ध है। तीव्रसे तीव्रतर गतिसे उसकी उँगली तारपर चल रही है और मिजराबकी अत्यन्त परुष ठोकर देकर वह तारको गुँजा रही है।

ऐसे ही समय श्रीकान्तने उस कमरेमें आकर कहा, "ओ हो, क्या बात है!"

सुनीताने देखा। देखकर सिमटी। सितारपरसे एक साथ उसका हाथ हट गया। मानों वह कुछ अनौचित्यके बीच पकड़ गई हो। वाद्यकी गूँज धीमी होती गई और डूबने लगी। वह अस्त-व्यस्त-सी उठी।

सहसा अप्रत्याशित भावसे उसने जल्दीमें कहा, "तुम कब आए?"

"कब आया! देर तो ज्यादे नहीं हुई। लेकिन तुम रुक क्यों गई? बड़ा अच्छा तो बजा रही थीं।"

मानो सुनीताने कहा, 'बहुत दिनों बाद सितार लेकर बैठी थी। लेकिन प्रिय, इस बातको मनमें मत लाना।'

मानों कहा, अर्थात् सुनीताने यह मुँहसे नहीं कहा, किन्तु समस्त भाव-भंगिमासे कहा। मुँहसे तो यह कहा, "कपड़े बदल लो, भूखे होगे। मैं इतनेमें कुछ लाती हूँ।"

श्रीकान्तने कहा, "लेकिन यह तो ठीक नहीं हुआ कि मैंने विघ्न डाला।"

सुनीता हठात् हँसी। उसने कहा, "तो लो, तुम बजाओ, मैं सुनती हूँ।" कहकर सितार उसकी ओर बढ़ाने लगी।

"मुझे तुमने इतना सिखाकर रखा होगा कि उस्तादके सामने बजानेका मेरा मुँह हो?" यह कहकर श्रीकान्तने सितार ले लिया और कोशिश करने लगा कि सरगम ठीक निकाले।

सुनीता चलनेको हुई। लेकिन बीचहीमेंसे सावधान हो आकर बोली, "बाबूजीका आदमी आया था। कह गया है कि अम्माँजीका जी अच्छा नहीं है। शामको बुलाया है। मुझे आनेमें चार पाँच रोज लग जायेंगे। चली जाऊँ?"

श्रीकान्तने कहा, "मैं कह दूँ, तो नहीं भी जाओगी क्या? अम्माँजीका

कैसा जी है ?"

"पेटमें दर्द बताता था।"

"तो पॉच सात रोज़ लग जायेंगे ?"

सुनीताने कहा, "कब कब मैं कहती हूँ, जो तुम ऐसा कहते हो। अच्छी बात है, मै नहीं जाती।"

श्रीकान्तने कहा, "अरे भाई, किसकी हेकड़ी है कि कहे, मत जाओ! मै भी देखना चाहता हूँ, वह आदमी कौन है। लेकिन पति नामके प्राणीका फिर क्या हाल होगा, यह भी सोचा है ?"

सुनीताने कहा, "खाना दोनों वक्त वहीं खा लिया करना, नहीं तो आदमी दे जाया करेगा।"

"ठीक है," श्रीकान्तने कहा, "तुम इसमें सन्तुष्ट हो, तो मेरा यही सौभाग्य है। लेकिन हरिप्रसन्न क्या चला गया ?"

"वह नहीं आए।"

"नहीं आया!"

"कुछ काम हो गया होगा। लेकिन तुम कपड़े उतारो, हाथ-मुँह धोओ।"

यह कहकर सुनीता चली गई। श्रीकान्त कुछ भी न समझता हुआ वहाँ बैठा रहा।

सुनीता उस रोज अम्माजीके यहाँ चली गई। और सुनीताके साथ जाते जाते राहमें श्रीकान्तने सोचा, "चलो, ठीक है। अब जरा हरिप्रसन्नकी खबर लेंगे।"

२२

किन्तु हरिप्रसन्नकी खबर ली न जा सकी। जहाँ खयाल था कि वह होगा, वहाँ हरिप्रसन्नका बस इतना पता लगा कि वह नहीं है, दो रोज़ पहले कहीं चला गया है।

श्रीकान्त इसपर झल्ला आया। उसको बुरा लगा कि हरिप्रसन्न अब भी स्वच्छन्द, स्वतन्त्र रह सकता है और श्रीकान्तको अपने बारेमें अँधेरेमें रख सकता है।

तीन दिन बीत गए। श्रीकान्त घरमे अकेला रहा। न उसे हरिप्रसन्नका पता लग पाया, न सुनीता ही अपनी माँके यहाँसे उस घरमें रहनेको आ सकी। गनीमत यही थी कि सुनीताके पिताका घर दूर नहीं था, उसी शहरमें था। श्रीकान्तने जाकर जब यथासमय सुनीताको खबर सुनाई थी कि हरिप्रसन्न नहीं मिलता, और

[illegible]

सुन ली थी, और जतला दिया था कि अभी चार-पाँच रोज़ या शायद अधिक भी उसे यहाँ ही रहना होगा। नहीं कहा जा सकता, सुनीताके मनमे तब क्या हुआ था। किन्तु उसके अतिशय विमनस्कताके साथ हरिके न पानेकी सूचना सुननेपर श्रीकान्तको अच्छा न लगा था। फिर भी इस विषयपर श्रीकान्तने अधिक बात न की। बात करनेको था भी क्या?

एक दिन, दो दिन, तीन दिन। ये सब दिन फीके बीते। पर चौथे दिन जब अँधेरा-सा हो चला था और श्रीकान्त दफ्तरमें बैठा सोच रहा था कि जाकर बाहर घूमे अथवा कानूनकी किताबें खोलकर उनमें अपनेको फँसावे, तभी उसके सामने हरिप्रसन्न आ आविर्भूत हुआ। एकाएक उसे पहचानना कठिन था। न मूछ-दाढ़ी थी, न बाल थे। बगलमें छोटा-सा पुलिंदा था।

पुलिंदेको मेजपर टिकाकर हरिप्रसन्नने कहा, "श्रीकान्त, तीन चार रोज मैं यहाँ रह तो सकता हूँ न? इसीसे मेरे साथ यह पुलिंदा है।"

श्रीकान्तका एकाएक विस्मयसे उद्धार न हुआ। तब हरिप्रसन्नने फिर कहा, "क्यो भई, बोलो, यहाँ टिक तो सकूँगा न?"

श्रीकान्तने पूछा, "तुम चले कहाँ गए थे?"

हरिप्रसन्नने कहा, "चला कहाँ गया था, इसे छोड़ो। यह बताओ, चार रोज मेरे यहाँ ठहरनेका सुभीता तो होगा न?"

श्रीकान्त इस बातपर विस्मयसे हरिप्रसन्नको देखता रह गया।

हरिप्रसन्नने मानों किसी बाधाको अपने ऊपरसे टालते हुए कहा, "भाभी यहाँ नही हैं? यह अच्छा है। तब मैं समझता हूँ, मैं रह सकता हूँ। मेरा सामान तुम बहुत गौरसे क्या देखते हो? . हाँ, वह इतना ही है। सामान थोड़ा अच्छा होता है। Who possesses little is so much the less possessed यह पक्की ही बात है। पिछले दिनों तो मैं परिग्रहको और भी काफी कम कर दे सका हूँ। हाँ, एक बात तो है—"

यह कहते हुए उसने लिपटे पुलिंदेको खोला। उसमे कुछ कामके कपड़े, दो एक किताबें, एक छोटी कॉपी, एक अण्डी चादर और कुछ इसी भाँतिकी चीजें थीं। एक रिवाल्वर भी था। चमड़ेके घरमेंसे उस रिवाल्वरको बाहर निकाल कर उसने कहा, "यह भी मेरे पास है। मुझे मानना होगा कि यह भी परिग्रह है। सत्यार्थीको इससे क्या लगाव? भय रोकने और उसी भयको खड़ा करनेका तो यह साधन है। जो सर्वथा निर्भीक है वह दूसरेमें भी भय क्यों उपजावेगा? इससे

निर्भय सदा निश्शस्त्र होता है। यह तुम कहोगे। मैं भी यह मानता हूँ। लेकिन फिर भी तो यह मेरे पास है।"

रिवाल्वरको केसके भीतर रखकर फिर उसने उसी भाँति पुलिंदेमें लपेट दिया और कहा, "इसीसे श्रीकान्त, मैं पूछता था कि तीन-चार रोज रहनेकी सुविधा मुझे होगी न ?"

श्रीकान्तने कहा, "हरिप्रसन्न !"

"देखो भाई," हरिप्रसन्नने कहा, "इसके आगे भी कुछ है। वह यह कि मुझे रुपया भी चाहिए। इस बार तो सौ रुपयेकी जरूरत आ पड़ी है।"

श्रीकान्तने कहा, "हरिप्रसन्न, तुम कहाँ जा रहे हो? मैं विवाद न करूँगा। लेकिन मुझे बताओ, पिछले तीन दिन तुम कहाँ रहे, क्या किया और क्या क्या हुआ ?"

हरिप्रसन्न इस श्रीकान्तकी विश्वस्त स्थितिके समक्ष क्वचित् सकुचित हुआ। संकोचके बोधमेंसे अहकार जागा। उसने कहा, "उस सबमें तुम्हारी चिन्ताके योग्य कुछ नहीं है, श्रीकान्त।"

इसपर श्रीकान्त उठा। उसने बढ़कर पुलिंदा अपने साथ ले लिया और कहा, "अच्छी बात है। आओ।" यह कहकर वह आगे बढ़ गया और स्टडी-रूममें जाकर बोला, "देखो यह कमरा तुम्हारा है। जब तक हो, तब तक तुम्हारा ही है।" अनंतर आप ही आप मानों कुछ उलझन-सीमें पड़कर उसने कहा, "अच्छा हाँ, तो खाने पीनेका क्या रहेगा ?"

हरिप्रसन्नने निरर्थक रूपमें कहा, "खानेका क्या ?"

श्रीकान्तने कहा, "खानेकी तो पक्की बात है। क्योंकि तुम्हारी अन्नपूर्णा भाभी तो हैं नहीं कि जिनके भरोसे खानेको एकदम न कुछ समझ लिया जाय। और जाने वह यहाँ कब आयेंगी। मैं कभी वहीं खा आता हूँ, कभी खाना यहाँ आ जाता है। तुम—तुम्हारा इसके लिए बाजार जाना तो न मुझे रुचेगा, न तुम पसन्द करोगे। तो—"

"तो क्या। यहीं बना लूँगा।"

"यहाँ बना लोगे ?" अलक्ष्य भावसे यह दुहराते हुए श्रीकान्तने कहा, "ठीक है। हम दोनों यहीं बना लिया करेंगे। मैं भी क्यो न वहाँसे छुट्टी ले लूँ। और तुम तो खाना बनाना खूब जानते ही होगे। क्यों ?"

मानों यह सब सोचकर हठात् कुछ नव्य बोधका-सा आनद श्रीकान्तने लिया।

हरिप्रसन्नने कहा, "नहीं नहीं, तुम मुसीबतमें क्यों पड़ोगे। मुझे मुझपर छोड़ो।"

श्रीकान्तने बंडल रख दिया था और अभी वे दोनों खड़े थे। अब श्रीकान्तने हरिप्रसन्नको कुर्सीपर बिठाकर स्वयं भी कुर्सीपर बैठते हुए कहा, " बैठो। तुम्हारे रहनेकी बात तो तय हुई। अब दूसरी बात हो, इससे पहले यह बताओ कि तुमने कुछ खाया पीया है ? "

हरिप्रसन्नने कहा, " नहीं। "

" तो यह कहो न। इधर-उधरकी बात क्या कहते हो ? "

कहकर श्रीकान्त उठ खड़ा हुआ। चलनेको उद्यत होकर उसने कहा, " मैं अभी आता हूँ। तुम्हारी भाभीसे कहूँगा, तुम आ गये हो, और यह कि तुम भूखे हो और खाना तुम्हारे लिए भी भेजें। और देखो, वह आई तो रिवाल्वर उनकी निगाहकी ओटमें ही रखना भाई। क्योंकि स्त्रियाँ उसे बहादुरीका ही चिह्न समझती हैं और उससे डरनेको तैयार रहती हैं। "

हरिप्रसन्नने हँसते हँसते कहा, " श्रीकान्त, रिवाल्वर वह चीज है कि जान ले लेती है। तुम तो जैसे इसे तिनका भी नहीं समझना चाहते। "

" नहीं नहीं, कौन कहता है। मैं तो इससे डरता तक हूँ, नाचीज उसे कैसे समझूँगा। लेकिन इस खूँख्वार जानवरके हियेकी आँखें तो नहीं हैं कि देखकर जान ले। इसलिए हर किसीको भी यह मार सकता है। और मारनेका काम चलेगा, तब इस रिवाल्वरका मुँह चारों ओरको नहीं लपकेगा, इसका ठिकाना है ? " जाते जाते श्रीकान्त खड़ा ही रह गया। " शेरके दाढ़ें और पञ्जे हैं, किन्तु आदमीके पास दुर्बल शरीर है। तब क्या आदमी मर जाय ? इसलिए तुम कहते हो कि आदमी रिवाल्वर बनावेगा, जिससे शेरका पञ्जा उठे भी नहीं कि शेर रिवाल्वरकी गोलीसे वहीं ठण्डा हो जाय। मैं कहता हूँ, बहुत ठीक। लेकिन शेरकी जगह आदमीको ठण्डा करनेके काममें आनेमें उस रिवाल्वरको कितनी देर लगती है ? किन्तु तुम कहोगे, दुष्टका नाश होना चाहिए, तभी साधुका परित्राण होगा, इसलिए नर हत्यासे क्यों कातरता ? यही न ? लेकिन मैं पूछूँ कि अमुकको दुष्ट ठहरानेमें मनुष्यकी बुद्धिको क्या आयास लगता है ? किसीको दुष्ट मानते जब हमारी बुद्धिको देर नहीं लगती, तब हमारे हाथ भी बिना देर लगाए रिवाल्वरको चला उठें,— यही तो निश्चित ठहरा न ? पर यह हो तो जीवनका अस्तित्व सम्भव है ? मुझे तो दीखता है कि मानव-सम्बन्धोंके बीचमें यदि किसी ओरसे भी रिवाल्वर प्रविष्ट होने दिया जाता है तो उसे चतुर्मुखी हो पड़नेसे नहीं रोका जा सकेगा। तब रिवाल्वर साधुका नाश और दुष्टका उद्धार नहीं करने लगेगा, इसका

तुम्हें आश्वासन है ?"

किन्तु हरिप्रसन्न कुछ कहे, इससे पहले ही श्रीकान्तको ख्याल आया कि वह तो सुनीताके पास जाकर इस हरिप्रसन्नके लिए खाना तैयार करनेको कहनेको चला था। यह सोचकर वह फिर चल खड़ा हुआ।

हरिप्रसन्नने मुस्कराकर कहा, "रिवाल्वरको हाथमे लेकर रगोंमे स्फूर्ति आती है, श्रीकान्त। नीति कुछ कहे और नीति तो सदा ही विवादास्पद है—किन्तु प्राणोंकी स्फूर्तिको तो एकदम कैसे इन्कार किया जा सकता है? क्या हिन्दुस्तानी निःशस्त्र किए जाकर ही नपुसक नहीं बनाए गए हैं? बोलो—"

तब श्रीकान्त "अच्छा-अच्छा" कहता हुआ वहाँसे चला गया।

हरिप्रसन्न उसी स्टडी-रूममें रहा जिसमें पहले दिन कमरमे धोतीका फेंट बाँधे हाथमें बाँसमे बँधी झाड़ू लिए उसकी भाभी सुनीता उसे मिली थी। वह उसके अप्रत्याशित आगमनपर जल्दीमे सिरपर धोतीका छोर लेकर सिटपिटाई-सी खड़ी रह गई थी। इसी स्टडी-रूममे उसने शेली और शॉकी किताबे खींचकर उनमे अलग अलग सुन्दर सुन्दर अक्षरोंमे लिखा था—'श्रीमती सुनीतादेवी'। इसीमें उसकी ठीक की हुई उन सपतिका भाभीकी तस्वीर अब भी रक्खी है। और क्यो, इस ही कमरेने (ओह!) उन दोनों (पति पत्नी) के जाने किन किन पवित्र रहस्यो, किन किन क्रीडाओं और स्नेह-वार्ताओंकी सुरभिको अपने मर्ममे धारण नही किया है! आज उसी स्टडी-रूममें अपने बण्डलके भीतर आदमीकी जान लेनेवाले इस्पातके रिवाल्वरको दुबका रखकर वह फिर आ पहुँचा है। नहीं जानता है, क्यो। और मानों वह अपनेसे लौट लौटकर पूछना चाहता है—क्यों, रे क्यों?

हरिप्रसन्न कुर्सीपर बैठा बैठा सामने मानों देखना चाहने लगा कि उसके मनके भीतर क्या है और उसके भविष्यके गर्भमें क्या है?

२३

श्रीकान्त मन ही मन उलझनमे पड गया। हरीकी आत्मामे कहाँ गाँठ पडी है कि वह अतर्क्य होता जाता है, यह कुछ भी समझमे नहीं आता। वह तो जैसे अपने भीतर भेदको पाल रहा है। यों तो कब वह विचित्र न था, पर यह एकदम दुर्गम दुर्ज्ञेय हो उठने जैसी बात नहीं थी। भारतकी आजादी ही, सच, क्या उसे भरमा रही है? किन्तु भारतकी आजादी तो तब तक व्यक्तिके लिए निरी ध्वनि ही है, मात्र शब्द, अवास्तव, जब तक उसके निकट व्यक्तिगत रूपसे वह

कुछ न बन उठे। क्या उसका आत्मप्रसार भारत-व्यापी हुआ है कि भारतकी आज़ादीका प्रश्न उसके अस्तित्वके साथ संश्लिष्ट, अभिन्न बन गया हो? नहीं तो वह सामान्यतया स्वाभाविक क्यों नहीं है? उसके साथ तो द्विधा भी दीखती है। जान पड़ता है कि अपने भीतर कुछ लेकर उसका मुकाबला करते हुए ही वह अपनेको बिता रहा और बीत रहा है। पर वह उसके मनकी घुण्डी क्या है जिसको तोड़नेके लिए रिवॉल्वर तक आ पहुँचा है, सो हाथ नहीं आता।

हरिप्रसन्न जो भी है और जो भी होता है, श्रीकान्तको तो वही स्वीकार है। हरिप्रसन्न क्या बनता है, यह तो उसके भीतर जो नियति और जो पूँजी बन्द है उसपर निर्भर है। यह तो उसका ही अपना काम है। श्रीकान्तको उस भवितव्यतापर अपनी ओरसे कुछ आरोप करनेकी इच्छा नहीं है। उसकी मित्रतामें तो हरिप्रसन्नकी स्वीकृति ही है। कल वह लाल लहूसे रँगे हाथ लेकर श्रीकान्तके सामने आ पहुँचे, तब भी श्रीकान्तके मनके निकट वह कम ग्राह्य न होगा। तब भी श्रीकान्त मनके द्वार खोलकर कहेगा, 'हरी, आओ। ख़ूनी हो कि क्या हो, इससे पहले यह तो है ही कि हरिप्रसन्न हो, इससे आओ। श्रीकान्त सखा बना है, तब वह सखा ही रहेगा।'

किन्तु हरिप्रसन्नको पानेकी व्यस्तता श्रीकान्तके चित्तमेंसे कम नहीं हो सकती। मित्र है, तो मित्रको पाना भी होगा। किन्तु अचानक दाढ़ी-मूँछ मुँड़ाकर और रिवाल्वर पुलिंदेमें डालकर ले आनेवाले हरिप्रसन्नको श्रीकान्त पा नहीं रहा है, यही व्यथा है।

वकील है और जानता है, कानून क्या है। यह भी जानता है कि कानूनके प्रति नागरिकका क्या दायित्व है और उस दायित्वका स्खलन दण्डनीय है। किन्तु वह कानून कहाँ नीचे रह गया है जब कि उसने कहा है, "हरी आओ। जब तक हो, यह कमरा तुम्हारा है।" यह उसको पता नहीं है। इस कानूनसे बहुत ऊपर होकर भी एक प्रकारका कानून है। अन्तर यही है कि वह कहीं अधिक स्थिर है, कहीं निर्ममतासे अमोघ है। उस अकहीन (अथवा, सर्वत्र अंकित) कानूनको इकार करके क्या नीचे ही रहना होगा? नहीं, वह नहीं होगा।

श्रीकान्तने एकान्तमें जाकर सुनीतासे कहा, "हरिप्रसन्न आ गया है।"

सुनीता बिना चौंके धीमेसे बोली, "हाँ-आँ?"

"इस बार अजब ही हाल है। मूँछ-दाढ़ी साफ है और कुछ दुबला दिखता है। उसके लिए झट कुछ खानेको भेजना होगा।"

" कुछ पूछा कि वह कहाँ रहे ? "

" जैसे अपने रहने-सहनेका हिसाब-किताब वह हमें देने ही चला है । मैंने तो नहीं पूछा । "

सुनीता चुप पड़ गई । जैसे वह अपने भीतरसे ही अपने सवालका जवाब पा लेने लगी । अनन्तर उसने कहा, " मूँछ-दाढ़ीके बिना तो विचित्र लगते होंगे । सिरके बालोंका भी श्राद्ध हुआ ? " कहकर सुनीता कुछ मुस्कराई, जैसे भरा बादल मुस्कराए ।

श्रीकान्तने कहा—" मशीनकी कटी दूब-सा साफ मैदान है । "

" अभी तो रहेंगे न ? "

" कुछ दिन रहेगा, मालूम होता है । अपने सब डण्डे-डेरेके साथ है । मैं तो सामान देखकर घबरा गया । "

" बहुत सामान है ? "

" बहुत—कि कमरेमें मुश्किलसे समाया है । स्टडी-रूम, मैंने कह दिया है कि, उसका है । अब तुम कब चलोगी ? अम्माँजी तो ठीक हुईं । "

सुनीताने कहा, " मैं ? "

श्रीकान्तने कहा, " जी हाँ । "

सुनीता—मैं अभी नहीं आ सकूँगी ।

श्रीकान्त—तो बहुत अच्छी बात है । यह न समझिएगा कि मैं तकलीफ पाऊँगा । क्योंकि तय हुआ है कि हरी रोटी बनायगा, हम खाया करेंगे । हम आप-हीके आसरे नहीं जीते हैं साहब । और आप जानिए, हरी जरूरी तौरपर वह उम्दा रोटी बनायगा कि क्या हमने कभी खाई होगी ।

सुनीताने धीमेसे कहा कि " वह रोटी क्यों बनायेंगे, यहाँसे दोनों दफा चली जाया करेगी ? "

श्रीकान्तने कहा कि " ऐसी ही कृपाशीला यदि श्रीमती हैं तो चली ही क्यों नहीं चलतीं ? "

सुनीता जैसे सोचमें पड़ गई । कुछ देर बाद कहा, " नहीं, आऊँगी तो मैं नहीं— "

श्रीकान्तने कहा, " तो अपनी कृपाको ही क्यों व्यर्थ दिनमें दो बार भेजा करोगी ?—उसे भी रक्खो । हम लोगोंको अपने मनके मुताबिक ही दो चार रोज खा-पी लेने दो । "

सुनीता कुछ सोचती रह गई, बोली नहीं । कुछ क्षण बाद कहा, " अच्छा,

तो कल शामको मैं आ जाऊँगी।"

श्रीकान्तने कहा, "यह लो! हम तो समझते थे, चलो कुछ रोजकी छुट्टी मिली!"

"ओह," सुनीता सहसा चिहुँकी—"मुझे तो बातोंमें याद भी न रहा कि आज घरमें झक-झककी वजहसे खाना कुछ ठीक-ठाक नहीं बना है। ठहरो, मैं उनके लिए अभी तैयार किए देती हूँ।"

यह कहकर वह चलनेको हुई। श्रीकान्तने रोककर कहा, "ज्यादा आयोजन न करो, जो हो दे दो। स्वाद मत देखो, वक्त देखो। अभी तो उसे भूखा न रखना जरूरी है, समझीं? पाक-चातुरी फिर दिखा लेना।"

'ऑह, पाँच मिनट तो लगते हैं' इस संक्षिप्त उद्गारसे श्रीकान्तको व्यर्थ करके वह झपटकर चल पड़ी।

तब श्रीकान्तने कहा, "अच्छा, सुनो एक जरूरी बात है।"

सुनीता रुकी कि कहो।

श्रीकान्तने कहा, "हरी सौ रुपएके लिए कहता था।"

"नहीं, कोई सौ-वौ रुपए नहीं हैं।—"

श्रीकान्त कहनेको हुआ—"सुनी,—"

"नहीं, वह अभी कहीं नहीं जाएँगे। कह दो, हमारे पास फालतू रुपया नहीं है।"

श्रीकान्तने कहा, "सुनीता!"

"वह घरपर आरामसे रहें क्यों नहीं? हम कोई महाजन नहीं हैं।"

"तो मैं कह दूँ, रुपया नहीं है?"

"हाँ, कह दो, फिजूल बातके लिए एक पैसा नहीं है। सत्याको पढ़ाएँ, तो पैंतालीस-चालीस जितना चाहें, माहवार वह लें। पता तो हो कि रुपया कहाँ जाता है। कहते हो, दुबले दीखते हैं। तो फिर किस पेटको भरनेके लिए वह पैसा है, जानूँ तो।"

श्रीकान्तको कुछ रोष होता प्रतीत होता था, किन्तु तभी उसका मन करुणासे भर आने लगा। अबलाके बलपर रोष किस भाँति हो सके? उस धनपर जो वह इतने एकान्त स्वत्व भावके साथ निर्णय दे रही है, सो श्रीकान्तको लेकर ही तो है। श्रीकान्तके अर्जित धनपर श्रीकान्तसे भी अधिक स्वामित्व जिस बलपर वह जतलाती है, वह बल भी तो स्वयं श्रीकान्त ही है। इसीसे श्रीकान्तके 'हाँ' सुनना चाहते हुए मुँहपर श्रीकान्तके बलसे ही बलिष्ठ बनी वह सुनीता खुलकर सुना

रही है—‘ नहीं नहीं नहीं । ’ उस स्वत्व-बलको श्रीकान्त किस हृदयसे तोड़े ? उसने विनीत भावसे कहा, “ सुनीता, सुनीता, सुनो तो—”

“ नहीं ” सुनीताने कहा, “ सुननेकी कोई बात नहीं है । कह दो, उन्हें कहीं जानेकी जरूरत नहीं है । वह क्यों भटकते हैं ? कह दो, भटकना है तो हम कोई बैंक नहीं हैं । ”

श्रीकान्त चुप हो रहा । उसने देखा कि सुनीताकी आपत्तिमें हरिप्रसन्नके लिए सहानुभूतिका अभाव नहीं है । फिर वह एकाएक क्यों ऐसी कठोर है, यह श्रीकान्त नहीं पकड़ सका । कहा, “ अच्छा, कल शामको तुम आओ तो । ”

“ हाँ, शामको मैं आऊँगी । ” कहकर सुनीता आगे बढ़ी ।

“ मैं बैठूँ ? खाना कितनी देरमें खिलाओगी ? ”

“ हाँ, बैठो । मैं सत्याको भेज रही हूँ, इम्तहान पास है, ज़रा उसे बता देना । खाना अब बना । ”

सुनीता चली गई । श्रीकान्त हठात् मुस्करा आया ।

२४

श्रीकान्त मुस्कराया तो, पर उसके चित्तमें यह बात हिलग ही रही कि यदि हरिप्रसन्नकी सौ रुपयेकी माँग सहज पूरी न हुई तो क्या होगा ? हरिप्रसन्न किसलिए यह रुपया चाहता है, यहाँ श्रीकान्तको और भी अँधेरा मालूम होता है । किन्तु चाहता है इतनेहीसे वह तो हरिप्रसन्नको मिल जाना ही चाहिए । मुँह खोलकर हरिप्रसन्न सौ रुपये माँग बैठा है, तब यह तो है ही कि उसे अपने लिए नहीं चाहिए । तब फिर अपनी जरूरतसे भी अनिवार्य किस और जरूरतके लिए चाहिए—यह श्रीकान्तको सोचे नहीं मिलता ।

इतनेमें पहुँची सत्या । बोली, “आज आप बड़ी देर करके आए, जीजाजी ।”

“ देर ! नहीं तो । ”

सत्याने कहा, “ मेरा इम्तहान बहुत पास आगया है, मैं कैसे करूँ ? मैथेमेटिक्स मेरा बिल्कुल भी नहीं हुआ । आप एक घण्टा मुझे दिया कीजिए । ”

श्रीकान्तने सत्याकी ओर देखा, और एक साथ जाने उसमें क्या देख लेना चाहा ।

“ बोलिए, देंगे ? ”

यह लड़की है तो बड़ी निर्बोध, और दुर्बोध भी है । श्रीकान्तने कहा, “ पढ़ोगी ? तो देखो, कल शामको वह आयेंगी, उनके साथ घर आ जाना ।

रोज शामको गाड़ीपर आ जाया करना। हरिप्रसन्न पढ़ा दिया करेगा। वह ऐसे ही हाथ आएगा।"

फिर हरिप्रसन्न! सुनकर सत्या पहले तो विस्मित हुई, फिर कटु व्यङ्गमें मुस्करा पड़ी, "वह आगए? कब आए?" कहकर मानो अब झल्ला आना चाहने लगी।

श्रीकान्तने सत्याको स्थिर भावसे देखकर कहा, "आज ही आया है। और सुनो सत्या, विद्यासे विनय आती है, और विनयसे भी विद्या आती है। तुम—"

बीचमें ही बातको संक्षिप्त कर देते हुए सत्या बोली, "एक सवाल नहीं आया है। लाऊँ, आप बता देंगे?"

श्रीकान्तने उसी भावसे देखते हुए कहा, "नहीं, मुझको तो जाना है। लेकिन तुम ठीक कहो, क्या उससे नहीं पढ़ना चाहती हो?"

निर्दोष अभियुक्तकी-सी बानीमें सत्याने कहा, "तो मैंने कब कहा है—"

"अच्छी बात है" श्रीकान्त समाधानपूर्वक बोला, "मैं हरिप्रसन्नसे कहूँगा। पर वह कौन कम दुर्घट है!"

सत्याको यह अच्छा नहीं लगा। उसने जोरसे कहा, "वह पढ़ाना चाहे कि न चाहें, मुझे फिर भी पढ़ना चाहना ही होगा। यह बात ठीक नहीं है, जीजाजी।"

श्रीकान्तको सुनकर निरी अप्रसन्नता नहीं हुई। सत्याके शब्दोंमें जाने कैसी ध्वनि उसे प्रतीत हुई। मानिनीके मानका स्वर ही मानों उसमें सबके ऊपर होकर बज रहा है। कहा, "उसे जरा समझना मुश्किल है। बाकी वह पढाना क्यों न चाहेगा? अच्छा जाकर देखो तो खानेमें कितनी देर है।"

सत्या चली गई तब श्रीकान्तने सोचा कि सुनीताके मनकी बात भली ही है, हरिप्रसन्न और सत्याका मेल बुरा न होगा। देखता हूँ, सत्याका जी बिल्कुल खाली हो, ऐसा नहीं है। मानो वहाँ कुछ झगड़ा मचा है। इधर हरिप्रसन्न आज चाहे जो हो, पति जब होगा तब जिम्मेदार पति ही होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

इतनेमें सत्याने आकर कहा, "खाना हो गया है, जीजी बुला रही हैं, चलिए।

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा। लेकिन सत्या, तुम सुनो, यहाँ आओ। कैसी सत्या रानी हो। इम्तहानमें तुम्हें अच्छे नम्बरोंसे पास होना चाहिए—"

सत्याने झींककर कहा, "खानेके लिए चलिए।"

झींककर कहा, मानों कि सत्याको भीतर भीतर जीजाजीकी बातोंमे कहीं आसन्न संकटकी टोह मिल रही है। छिः छिः, सत्या तो टलाये ही जायगी!

श्रीकान्तने प्रेमसे कहा, "देखो सत्या, अपनी जीजीसे कहो कि मेरा भी खाना

टिफिन-कैरियरमें रख दें। घरपर हरिके साथ खाऊँगा।"

सत्याने कहा, "नहीं नहीं, आप यहीं खा लीजिए। उनके लिए आप भूखे क्यो रहते हैं?"

"सत्या, वह मेरी बाट देखेगा। तुम जीजीसे जाकर कहो, मेरा भी खाना रख दे।"

सत्या रुष्ट-सी होती हुई चली गई।

थोड़ी देरमें सुनीताने आकर कहा, "तुम यहीं न खा लेते। उनके लिए बनानेमें अभी कुछ देर और लगेगी।"

श्रीकान्तने कहा, "नहीं रख ही दो। मैं ले जाऊँगा।"

सुनीता लौटने लगी तो श्रीकान्तने कहा, "तुम कल शाम आ रही हो न? सत्याको भी साथ लेती आना। जब तक हरिप्रसन्न है, तब तक तो वह पढ ही सकती है।"

सुनीताने जाते जाते कहा, "क्योंजी, कुछ जानते हो, सौ रुपए उन्हें क्यों चाहिए?"

"नहीं, मैं कुछ नहीं जानता।"

"बिना जाने हम कैसे दे सकते हैं? हाँ, मैं कल आऊँगी, सत्या भी आयगी। कामके लिए यहाँसे अभी रामदयाल (नौकर) को न लेते जाओ, घरपर झाड-बुहार दिया करेगा।"

श्रीकान्तने कहा, "अहँ, अब एक रोजकी तो बात है। और एकाध रोज काम करनेमें वही कौन-सा घिस जायगा।"

"अच्छा, मैं अभी खाना लाती हूँ।" कहकर सुनीता चली गई।

खाना लेकर सत्या आई और श्रीकान्त उसे फिर ताकीद करके कि वह कल अपनी जीजीके साथ पढने आनेका ध्यान रखे, खाना लेकर चल दिया।

घर आकर देखा कि हरिप्रसन्न घरकी सफाई करनेमें लगा है। उसने तमाम घर झाड़ूसे बुहारकर साफ कर लिया है और अब सहनको धो रहा है।

श्रीकान्तने कहा, "यह क्या ले बैठे?

हरिप्रसन्नने कहा, "आओ, बड़ी देर लगाई। मैं अभी तैयार होता हूँ। धूल बहुत चढ़ गई है, सो नहा डालूँ। अभी दो मिनटमे नहाकर चुकता हूँ। तुम तो खा-आये न?"

श्रीकान्तने कहा, "पागल हो, मैं कहाँसे खा आता? नहाकर झटपट चुको,

तब तक मैं भी बैठा हूँ। "

दोनों मित्र जब खाने बैठे, तब जो बात दोनोंके सबसे निकट थी वही बातचीतमें दूर दूर रही। किसी ओरसे चर्चा नहीं। चली कि सौ रुपयोंका क्या बनेगा और रिवॉल्वरका भी उन सौ रुपयोंसे सम्बन्ध है या नहीं। श्रीकान्तने कहा, " तुम घर आए हो तो एक दिनमें घरका ज़िम्मा ले लेना चाहते हो क्या ? यह तो नहीं कि आरामसे बैठो, और नहीं तो झाड़ू लेकर घरको बुहारनेमें ही लग रहे ! ख़ैर, आजकी और बात है, कल वह आ ही जायेंगीं। "

" कल वह आयेंगीं ? "

श्रीकान्तने कहा, " जैसे तैसे आनेके लिए राजी कर सका हूँ। क्यों, खाना ठीक नहीं लगा क्या ? खाओ, खाओ। "

हरिप्रसन्नने कहा, " लेकिन अभी तो दो तीन रोज़ मुझे भी रहना है—"

" क्या आ ! दो तीन रोज ? "

हरिप्रसन्न कुछ अँधेरा-सा पड़ आने लगा, कहा, " देखो, अभी तो कुछ ठीक कहा नहीं जा सकता। लेकिन मैं उन्हें तकलीफ़ नहीं देना चाहता। "

" क्या कहा ? तकलीफ ? तुमको हुआ क्या है ? "

हरिप्रसन्नने हँसनेका प्रयास करते हुए कहा, " तो यह चाहते हो, न जाऊँ ? अच्छा, समझो, नहीं जा रहा हूँ। "

उसके बाद दोनों चुप रह गए। वह वाक्-बद्धता दोनोंहीके लिए भारी होती जाने लगी। श्रीकान्त भाँति भाँतिके सन्देहोंसे भर आने लगा। उसको नहीं समझ आता था कि क्या हो, जिससे कि यह हरिप्रसन्न अपना जी खोलकर सामने रख दे और स्वय हल्का हो जाय। इतनेमें हरिप्रसन्नने कहा, " ऐसा है श्रीकान्त, तो मेरे लिए कुछ सामान जुटाना होगा। मैं तो बाजार जा सकूँगा नहीं, और मेरे पास पैसा भी नहीं है—"

श्रीकान्तने कहा, " सामानकी चिन्ता न करो, तुम्हें यहाँ कुछ कष्ट न होगा। "

" नहीं नहीं, सो नहीं। कुछ रङ्ग और ब्रश और इसी तरहकी चीज़ें चाहिए। "

" क्या ? "

और हरिप्रसन्नने बताना शुरू किया कि ठीक ठीक क्या क्या चीजें लानी होंगीं। श्रीकान्तने कहा, " चित्रकारी करोगे ? जानते हो ? "

" जानता तो नहीं। लेकिन इन दिनोंमें जान लूँगा। खाली बैठे कुछ तो करना होगा। "

"तो ये चीज़ें अभी लाकर देनी होंगी ?"

"ला सको तो रातके कुछ घण्टोंमे अभ्यास करके देखूँगा।"

श्रीकान्तने कहा, "यदि नहीं ला सकूँ, तो ?"

हरिप्रसन्नने कहा, "तो अपने अनाड़ी हाथोंसे कमरेमे रखे तुम्हारे सितार-वितारको नहीं तोड़ दूँगा, इसका भरोसा नहीं है।"

श्रीकान्तने पूछा, "तो तुम बजाना जानते हो ?"

"जानता नहीं हूँ और चाहता भी नहीं हूँ। लेकिन कुछ और न मिला तो उसीको लेकर कुछ करना होगा। इसीसे कहता हूँ कि वे चीजें ला दो तो अच्छा है। तुम्हारा घर सजाऊँगा।"

श्रीकान्त इस हरिप्रसन्नके प्रति चिन्तित होता जा रहा है। इसके प्राणोंमें क्या बेचैनी है कि चुप आरामसे बैठना इसके लिए सम्भव नहीं रह गया है। कहा, "हरि, मुझे मालूम नहीं कि तुम भटके कम हो। जरा दो रोज सुख-चैनसे भी बैठ लो न। सत्या आएगी, उसे पढ़ाना। तुम्हारी भाभी आयेगीं, उनसे पहचान करना। दुनियाको तुम वीरान क्यों समझते हो ? जैसे आसमान ही है जिससे तुम बातें कर सकते हो। कि जो है उसे पदार्थ रूप देकर ही उससे तुम उलझ सकते हो। दुनियाके स्त्री-पुरुषोंमे तुम्हारे लिए कोई दिलचस्पीका विषय नहीं है क्या ?"

हरिप्रसन्नने कहा, "श्रीकान्त, यह तो सब खाली वक्तकी बात है। खाली वक्त भारी हो जाता है। काममे काटो तो कट जाय, यों काटनेको आता है। सब बातें वक्त बितानेके लिए होती हैं, और क्या। और मैं अकेला हूँ, यह इसलिए नहीं कि दुनियामें और नहीं हैं, बल्कि यह तो इसलिए है कि मैं बना अकेला हूँ।"

श्रीकान्तके भीतर हरिप्रसन्नके लिए पीड़ा उठती है। इसको क्या कहीं भी रस प्राप्त नहीं है ? ऐसा कर्मण्य व्यक्ति, क्या उस कर्मण्यतामें रस-बोध नहीं है ? क्या सब काम इसका अपनेको वक्तसे बचानेके लिए है ? ऐसे कर्मशील व्यक्तिमें यह सर्वग्राही अवसाद कैसा है ? उसने कहा, "तो क्या अभी तुम्हारे लिए ये चीज़े लानी होंगीं ?"

"लाओगे तो ले आओ।"

श्रीकान्तने कहा, "अच्छी बात है, ले आता हूँ। इन्हींसे बँधो, आखिर किसीसे बँधो तो। हर ओरसे छुटा रहनेसे कैसे जिया जायगा, मालूम नहीं।"

निबट-निबटाकर श्रीकान्त बाज़ारके लिए चलनेको हुआ, तब बोला, "देखो

छुरी, रिवॉल्वर तुम दे सको तो मुझे दे दो, मैं उसे ठिकाने लगा दूँगा। नहीं तो खूब सँभालकर रखना होगा, किन्हीं कच्ची आँखोंके आगे वह न पड़े।"

हरिप्रसन्नने धीमें-से मानों स्वीकृति दी।

"तो देते हो?"

हरिप्रसन्नने श्रीकान्तको स्थिर निगाहसे देखकर कहा, "वह ठीक ठिकाने ही है, श्रीकान्त। और वह यों क्या मिट जानेवाला है? किन्तु वह उत्पात नहीं करेगा, इसका भरोसा रक्खो।"

"कहाँ रक्खा है?"

हरिप्रसन्नने सूखी-सी हँसी हँसकर कहा, "ठीक रक्खा है।"

"अच्छी बात है" कहता हुआ श्रीकान्त तेजीसे बाहर चला गया।

हरिप्रसन्न कमेरेमें आ गया। रिवाल्वर निकाला। उसमें भरे कारतूस निकालकर हथेलीमें ले लिए। वे कारतूस चुपचुपाने भावसे उसकी हथेलीमें लेटे हुए करवटें लेते रहे। सहसा उसने उन्हें फर्शपर पटक दिया और रिवाल्वरको उसके चमड़ेके खोलमें भरकर अलमारीके ऊपर डाल दिया। फिर उसके ऊपर लापरवाहीसे अखबार चिन दिये। अब सोचा कि कारतूसोंका क्या बनाए?—फेंक दे? तोड़ डाले? अन्तमें उन्हें भी एक छोटी पोटलीमें कसके बाँधकर अलमारीके ऊपर ही डाल दिया। उसके बाद—खाली। यह खालीपन उससे नहीं झिलता। नहीं, वह खाली नहीं रहेगा। हाँ, ठीक, ठीक। कुछ सोचकर मानो झपट कर तब वह इस कमेरेकी प्रत्येक वस्तुको झाड़-पोंछकर करीनेसे लगानेमें लग गया। तस्वीरें उसने सब उतार लीं, पोंछीं और फिरसे टाँगीं। जाने कितनी देर इसमें न लगी। किन्तु, यह सब करनेके बाद सोच हुआ, "श्रीकान्त अभी नहीं आया! क्यों अभी नहीं आया? ..कमेरेसे बाहर चलकर टहला और फिर वापिस कमेरेमें आ गया। सोचा कि इस कमेरेमें फ़र्श पर ही अपनी दरी डालकर सोऊँगा। तब उसके सिरमें घूमने लगा कि नहीं मालूम यह कमरा उन भाभीके किस किस काम आता रहा होगा? यहाँ उनके वाद्ययत्र रक्खे हैं, यहाँ कितावें रखी हैं, यहाँ तस्वीरें टँगी हैं। ...यही कमरा आज उसका है,—आज इसी कमेरेके फर्शपर वह दरी विछाकर सोयेगा।...

वक्तको जब हरिप्रसन्न नहीं काट पाता, तब खाली रहकर वही हरिप्रसन्नको काटता है। वह देखने लगा कि अभी श्रीकान्त नहीं आया है, अभी नहीं आया है। वह अपने सिरमें घूमती हुई जाने किन किन बातोंको लेकर यही देखता रहा

कि अभी श्रीकान्त नहीं ही आया है, उसे गये दो घण्टे हो गये हैं। उसने उस कमरेके फ़र्शपर दरी भी बिछा ली और चाहा कि लेट जाय। किन्तु लेटा नहीं, टहलने लगा। अपने साथ तर्क किया कि घरकी चौकसीपर इस समय वही तो है, फिर कैसे लेट-जा सकता है। इसपर बाहर दालानमें आकर टहलने लगा।

टहल रहा था कि एक नव-युवक पास आया। हरिप्रसन्नने उसे देखा, पहचाना। युवकने प्रणाम किया।

हरिप्रसन्नने अत्यन्त अमनस्क स्वरमें कहा, " क्यों ? "

युवकने कहा, " आपकी ज़रूरत है। "

हरिप्रसन्नने कहा, " मेरी जरूरत न पैदा करो। जो आदेश हुआ, उसपर चलो। कोई नई खबर है ? "

" आप आयेंगे ? "

" देखो। "

उसके बाद वह युवक आँखों ही आँखोंमे कुछ पूछता हुआ खड़ा रह गया।

हरिप्रसन्न व्यति-व्यस्त भावसे बोला, " क्यों ? "

युवक लड़खड़ाता-सा बोला, " मैं—जाऊँ ? "

मानों बातको एकदम यहीं टूटा देखना चाहता हो इस भाँति हरिप्रसन्नने कहा, " हाँ, जाओ। "

युवकने तब भी कहना चाहा, " फिर ? "

" बस, कल शाम। "

" आप यहीं मिलेंगे ? "

" यहीं, यहीं, यहीं। सुना ? "

युवक प्रणाम करके चला गया।

हरिप्रसन्न और तेज चालसे टहलने लगा। टहलने लगा और टहलता रहा। थोड़ी देरमे जब श्रीकान्त आया तब उसने मानो बड़े सात्वनाके स्वरमें कहा, 'तुम आ गये ! बड़ी देर लगा दी।' और बढा कि मानों इस क्षण मित्रको आलिंगनमें बाँध लिये बिना उससे रहा नहीं जायगा। किन्तु बीचमें ही उसे रुक जाना पड़ा। उसे दीखा कि श्रीकान्त अप्रत्याशित रूपमें बन्द है, मूक है।

श्रीकान्त कुछ नहीं बोला। उसके पीछे पीछे जो झल्लीवाला आ रहा था उसकी झल्लीमेंसे सब सामान अलग रखकर, पैसे देकर जब उसे विदा कर दिया, तब श्रीकातने कहा, " देखो हरी, तुम्हारी सब चीज़ें ठीक हैं कि नहीं। "

हरिप्रसन्नने श्रीकान्तकी ओर देखा। देखकर हठात् ठिठक रहा, कहा, 'श्रीकान्त!"

श्रीकान्त क्या कुछ मुस्कराया? कहा, "टहलना छोड़ो, सामान देखो, हरी। देखो, सब पूरा है कि नहीं।"

हरी चुपचाप सामान सँभालने लगा।

२५

श्रीकान्त हरिप्रसन्नको कुछ देर देखता रहा। अनन्तर उसने कहा, "हरी, तुम्हारा बिस्तर ऊपर बिछा मिलेगा। मैं इतने जरा दफ्तरमें बैठता हूँ।"

हरिप्रसन्नने कहा, "अभी तो इस तुम्हारे सामानकी परीक्षा लेनी होगी। सो कौन जानता है, कब सोना मिले। नींद आयेगी तो इस कमरेमें ही पड़ रहूँगा।"

श्रीकान्त इस व्यक्तिको रातको अकेला छोड़ना नहीं चाहता। सोचता है रातको बात बातमें इसको बहलाना होगा। इसके मनकी बात भी कुछ मिली तो लूँगा। कहा, "ऊपर ही सोना, हरी। रातको बात करेंगे।"

हरीने कहा, "फिक्र न करो, मैं यहीं पड़ रहूँगा।"

श्रीकान्तने देखा कि हरी बसमें आनेवाला नहीं है। यहाँ हो कि कहीं हो, वह शायद सर्वत्र अपनी ही विधिसे चलेगा। कहा, "अच्छा, अभी तो मुझे घण्टे-भरकी छुट्टी दो" कहकर श्रीकान्त चला गया।

हरिप्रसन्न सामान लेकर स्टडी-रूममें पहुँच गया और उसे फैलाकर तभी कुछ चित्र-वित्र बनानेमें लग गया।

सोनेका काफ़ी समय बीत जानेपर श्रीकान्त उसे पुकारता हुआ आया। तब भी वह बोर्डपर काग़जपर झुका हुआ कुछ खींच रहा था। श्रीकान्तने कहा, "क्या कर रहे हो, सोओगे नहीं? उठो उठो।"

हरिप्रसन्नने कहा, "बस, यह पूरा कर लूँ, फिर सोना ही है।"

श्रीकान्तने हाथ पकड़कर उसको उठाना चाहा। उस समय कुछ ऐसा सकल्प-बद्ध और आर्त-सा भाव हरिप्रसन्नकी ऑंखोंमें भर आया कि श्रीकान्त पूछ उठा, "क्यों क्यों, क्या बात है?"

हरी०—कुछ नहीं, श्रीकान्त, मुझे रहने दो।

श्रीकान्त—ऐसी क्या बात है। चित्र कल भी हो सकता है।

हरिप्रसन्न—चित्र तो होता रह सकता है, लेकिन वह मेरी कल्पनामें अधूरा उतरा है। ऐसेमें नींद कैसे आयेगी? मुझे छोड़ दो, श्रीकान्त, उसे पूरा कर

लेनेपर मैं यहीं सो रहूँगा।

श्रीकान्तका मन बिलकुल इस बातको न समझ सका। 'अच्छा', उसने कहा, "मैं ज़ीनेका ताला लगाकर सोता हूँ। ले, यह ताली ले।"

हरिने विस्मयसे कहा, "ताली? मैं तालीका क्या करूँगा?"

श्रीकान्तने गम्भीरतापूर्वक कहा, "तुम्हें रातको बाहर जानेका काम तो नहीं पड़ेगा?"

"नहीं।"

"तुम चित्र पूरा करके ही सोओगे?"

"चित्र नहीं, पर खाका पूरा करना होगा।"

"ऊपर नहीं सोओगे?"

"यहीं पड़ रहूँगा।"

इस प्रश्नोत्तरके बाद श्रीकान्त मूक हो गया। उसके जीको समाधान नहीं था। मानों कुछ भीतर कलख ही रहा है। उसमें चाह हुई कि आशीर्वादका हाथ ऊँचा करके वह मना उठे, "हरि, तुम्हारी आत्मा तुम्हारे साथ रहे, और तुम्हारी यह रात सुखसे कटे।" उसके मनमें हुआ कि हरिप्रसन्नका एक हाथ अपने हाथमें लेकर, दबाकर छोड़ दे, और कहे, "मित्र, शङ्कित न रहना, तुम अपने ही घरमें हो।" उसको अनुभव-सा हुआ कि जैसे वह स्वयं हरिप्रसन्नके प्रति जो चाहिए, वह नहीं है। कि वह हरिप्रसन्नके प्रति सब कुछ नहीं कर पा रहा है।

अतिशय स्नेहपूर्वक उसने कहा, "हरि, तुम्हारा पलँग ऊपर बिछ रहा है। हो सके तो ऊपर ही आ जाना।"

हरिप्रसन्नने कहा, "श्रीकान्त, तकलीफ क्यों करते हो? मैं तकलीफके लायक हूँ? मैं यहीं जो पड़ रहूँगा।"

श्रीकान्तने एकाएक कहा, "हरि, तुम अभी परमात्मामें विश्वास नहीं करते हो?"

"अभी नहीं।"

"लेकिन मुझे कहने तो दोगे, भगवान् तुम्हें सुखी रक्खे? भगवान् सबको सुखी रक्खें।" कहकर श्रीकान्त धीमे-धीमे क़दमोंसे चला गया।

हरिप्रसन्न पीड़ाग्रस्त-सा हो शनैः-शनै अस्त होते हुए श्रीकान्तको देखता रहा। जब श्रीकान्त ओझल हो गया तब उसने गहरी साँस ली, और उस साँसको छोड़कर वह फिर अपने चित्रपर झुक पड़ा। मानों उसने हठात् निर्णय किया कि—न, न; श्रीकान्तके प्रति दयावान् होनेका दम्भ मैं न करूँगा।

उस रात उसने दो तीन तो रंगीन बेल-बूटोंकी ड्राइंग बनाई। बीच-बीचमें उनमें नागरीके अक्षर लिखे जो ठीक चीन्ह न पड़ते थे, न जिनका क्रम और अर्थ कुछ समझमें आता था। एक मोटो बनाया—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। अक्षर अति दृढ़, वलयाकर, उभारदार बनाए, जैसे चुनौती उनमें भरी हो। और उस वाक्यके चरणतलमें ऊपरकी ओर देखता हुआ एक नन्हा-सा प्रश्नवाचक लाल रंगमें टाँक दिया। वह शंका-चिह्न लहूकी बूँद-सा नन्हा और लाल, रमणीके भाल-पर कुंकुमके छींटे-जैसा स्थिर और दीप्त, उस गरिमामय वाक्यके मूलमें स्थान बनाकर बैठ रहा। मानों वही मुख्य है, मानों समस्तका मध्य-बिन्दु, हृद्बिन्दु वही है, उस तमाम पंक्तिका सुहाग, उसकी गरिमा, मानों उसी फंदेकी-सी बिन्दीमें बन्द है। मानों आत्मा उस प्रश्नमें ही है, शेष तो शरीर है,—मर भी सकता है। उसको लेकर ही मानों सब सजीव है, नहीं तो सब व्यर्थ है, भ्रम है।

इस सबके बाद एक बड़ा-सा कन्वास लेकर उसपर उतारना चाहने लगा कुछ वह, जो उसके मनपर भी ठीक उतरकर आता नहीं है। जो पीड़ाका बना है। जो भीतर घुमड़ रहा है और घुमड़ता रहा है। उसको भी आज रेखामें बाँध देना ही होगा—उस अरूपको और अमूर्तको, जो उसकी आत्माको डसे बैठा है। यह रातकी रात बीत जाय, चाहे कि कितनी ही रातें बीत जावें, उसको आकार देना ही होगा।

...ऊपर होगा आस्मानका नीला गुंबद, शान्त और तरङ्ग-हीन, जो नीला केवल इसलिए है कि अछोर है, अगाध है। जो नीलेसे भी अधिक साँवला है। सुन्न है, मानो कि अभी गूँज चुकाकर थमा है। साँझकी उजली-सी अँधियारी छाई है। देखो, तो दो एक तारे भी देख लो। उसीके नीचे, दूर, क्षितिजपर घेरा डाले, आकाशके चरम छोरपर जैसे, खड़ा है एक स्तूप,—अनबूझ पहेली-सा अभेद्य, मरीचिका-सा तरल। उस स्तूपका गात्र गहरे अँधेरेका बना है। सामने बिछी है अपार पृथिवी, बन्ध्या, ऊजड़ और सपाट। कहीं गतरस वृक्षकी ठठरी चीन्ह लो तो चीन्ह भी लो। वहीं—लेकिन ठहरो, स्तूपके शीर्षपर यह दृष्टि कैसी है? ये आँखें किसकी हैं? उन आँखोंमें क्या है? वे झँपी हैं कि खुली हैं? वे अधखुले, अधमुँदे नयन क्या रोके हैं—प्रलय, कि प्रणय? उनमें पीड़ा है कि आनन्द? ...तो क्या यह स्तूप नहीं है, रमणी है?.. किन्तु नहीं, स्तूप ही है, पर्वतकी नाईं गहन और अचल। उनके तलमें खड़ा है एक पुरुष, अमावास्याके समक्ष दीपककी नन्हीं-सी लौ जैसा असहाय, किन्तु ऊर्जस्व। वह सर्वथा नग्न है, बाँहें दोनों

ओर क्रॉसकी भाँति फैली हैं। देहसे बलिष्ठ है, उज्ज्वल है। किन्तु कैसा पुरुष—बिन ओर-छोरके रेगिस्तानके तटपर खड़े एकाकी माइल-पोस्ट जैसा। इंगित उसका खो गया है। अपार शून्यको ताक रहा है—कहाँ है उसका कोई और साथी? कहाँ है कोई? ईसाकी क्रॉस-मुद्रामें खड़ा है वह पुरुष, जाने कबसे खड़ा है,—उसके समक्ष जाने क्या है, स्तूप है, कि शून्य प्रसार है, कि सर्वाहारा रमणी है। खड़ा है, कि उन फैली बाहुओंको जोडकर प्रणाम करेगा, कि आलिंगन करेगा, कि विदारण कर डालेगा, नहीं जानता। मानों अड़ा है पुकारता हुआ—'ओ तू!...'

इसीको हरिप्रसन्न कन्वासपर उतारेगा। मनकी राहसे कन्वासपर उतारेगा ही। क्योंकि मनसे कब तक वह पीड़ा झिलेगी? नीचे लिखेगा—

ओ तू!

पेन्सिलकी मददसे उसी 'तू' को कागज़पर बाँधनेके प्रयासमें वह लग रहा है, और लग रहा है।

श्रीकान्तने रातके कोई बारह बजे उठकर देखा, बिजली जल रही है और हरिप्रसन्न चित्रमें लगा है, सो लगा ही है।

फिर अचानक तीन बजेके लगभग वह फिर चौंककर उठ बैठा। तब भी देखा, बिजली जल रही है। धीमे धीमे पैरोंसे गया कि कहे, 'हरी, बहुत हुआ, सोओ'। किन्तु पास जाकर देखा तो हरी दोनों हथेलियोंपर ठोड़ी रक्खे, उँगलियोंसे कनपटी पकड़े, सामने बिछे कागजपर काली लकीरोंसे बने आलजाल-को ऐसा खोया-सा देख रहा है, मानों वहाँ उसके प्राण कील दिये गए हों। देखकर श्रीकान्त चुपचाप लौट आया।

सवेरे पाँच बजे वह घूमने जानेके लिए उठता है। आज देर हो गई, छः बज गए। आकर देखता है कि बिजली जल रही है, और कागज़के पास ही हरिप्रसन्न एक ओर बाँहका तकिया लगाए सो रहा है। सो रहा है जैसे थका मज़दूर, उघाड़ा, निरीह। श्रीकान्त कुछ क्षण सुन्न-भावसे उसे सोता हुआ देखते रहा, फिर दबे-पाँव लौटकर अपने कमरेमें आया, अण्डी-चादर ली और हरिप्रसन्नको उढ़ा दी। उन्हीं दबे पाँव वह फिर दफ्तरके कमरेमें चला गया, घूमने नहीं गया।

२६

हरिप्रसन्न जब जगा, दिन चढ़ आया था। देखा, आस-पास चित्रकारीका सामान पड़ा है। क्या वह यहीं, यों ही सो गया था? अपने शरीरपर अंडीकी

चादर पाकर उसने जान लिया कि यह श्रीकान्त ही उसे उढा गया होगा। उसका मन श्रीकान्तके प्रति आभारसे भरता आने लगा। धीरे धीरे मानो यह उस मनके लिए भारी हो चला, तब जल्दीसे उठकर सब चीजें सँभालकर ठीक रख दीं, और स्वय निबटकर बुहारी लेकर घर-झाडनेमें लग गया। और नहीं तो वह इसी भाँति इस घरकी सेवामें अपनेको तनिक व्यय कर लेना चाहता है।

ऐसे ही समय श्रीकान्त आ गया, बोला, "तुम उठ गये? रात मालूम होता है बहुत देरसे सो सके।...यह झाड़ू लगानेका तुम्हें क्या रोग है?"

हरिप्रसन्नने कहा, "हाँ, रात देरतक वह तस्वीर सिरपर चढी रही। देखो न, इतने दिन चढ़े तक कोई भला मानस सोता है।.. और हाँ बताओ, आज तुम्हें क्या बनाकर खिलाऊँ? तुम देखोगे, मैं एकदम बुरा पाचक नहीं हूँ।"

श्रीकान्तने मुस्कराकर कहा, "खाना यहीं बनेगा? तुम बनाओगे? यही सही। लेकिन मैं ठहरा अनाड़ी—"

हरिप्रसन्न बोला, "वकील और अनाड़ी? लेकिन तुम अपनी वकालतका काम देखना, खाना बन चुकेगा, तब मैं खबर दूँगा। बस, मुझे बता दो कि सामान कहाँ रक्खा है, और चीजें बताओ क्या बनेंगी?"

हरिप्रसन्नको इस घरमें सेवाका कोई कर्म न मिल पायगा तो चित्त उसका बेचैन ही रहेगा, वह ऐसा कुछ कृतज्ञ भावसे भर गया है। झाड़ू दे-देकर वह घरको ऐसा साफ़ कर देना चाहता है कि खूब ही। चाहता है कि यह घर खूब अच्छा बने। चाहता है कि उसके अपने भीतर जो रस है सो सबका सब भीतरसे उँड़ेल कर यहाँ बहा दे।

श्रीकान्त तो आरम्भसे ही हार्दिक है। आज हरिप्रसन्नके यों हाथमे झाड़ू लेकर कमरा बुहारते रहनेमें उसे कुछ कठिन और अयुक्त प्रतीत नहीं हो रहा है, मानो यह तो स्वच्छ कर्मकी सेवा है, जिसके प्रति मनमें अस्वीकृति होती ही नहीं है। उसने कहा, "तुम खाना बनाओगे? अच्छी बात है, जो तुम्हारी पसन्दकी चीजें हों बनाओ। देखना है, तुम्हारी रुचि कहाँ पहुँचती है और सामर्थ्य क्या है?"

इसके बाद श्रीकान्त हरिप्रसन्नको चौकेकी तरफ़ ले गया, कहा, "यह चौका है, यह सामान रक्खा है। अब खोज लो कहाँ क्या है? साग-वाग चाहिए तो बताओ, क्या क्या ला दूँ? वह सब अभी लाए देता हूँ।"

किन्तु हरिप्रसन्न आज श्रीकान्तको कुछ भी नहीं करने देना चाहता है। उसने

कहा, " साग तुम लाओगे ? क्यों, सागके बिना न चलेगा ? "

" क्यों न चलेगा ? रूखी रोटी खिलाओगे तो भी भाई, खायेंगे । "

" तो आज रूखी ही खिलाऊँगा, चुपड़ी तो सदा खाई होगी । "

श्रीकान्तने कहा, " अभीकी बात है, शामको वह आ ही जायेंगी । देखना, ज्यादा बखेड़ा न करना । मैं तो कहता था, अब भी यह झँझट क्यों, खाना वहाँसे आ ही जाता । "

हरिप्रसन्नके हर्षपर अलक्ष्य भावसे मानों पानीसे भरा हलका-सा बादल आ गया, उस हर्षकी खिलती हुई धूप कुछ जैसे छिक गई, उसने कहा, " एक रोज़ उनके हाथकी रोटी तुम्हें न मिलेगी, इसकी चिन्ता होती है ? "

श्रीकान्तने कहा, " मेरा क्या है, तुम झँझट मोल लेना ही चाहते हो तो लो । एक दिन उनके हाथकी रोटीसे वञ्चित रहूँ, तुम समझते हो कि यह मेरे लिए सुखकी भी बात हो सकती है ? (मुस्कराके) सुखकी बात तो यह निस्संदेह नहीं है । (और भी मुस्कराके) लेकिन तुम्हारे हाथकी रोटी भला कब कब मिलनेवाली है ? "

हरिप्रसन्न बिना कुछ उत्तर दिए साथ लगी हुई कोठरीमें रखे टीनके डिब्बोंको खोल-खोलकर देखने लगा । जहाँ खडा था वहींसे श्रीकान्तने कहा, " अब तुम हो और यह घर है । मैं जाता हूँ । "

हरिप्रसन्नने अनिर्दिष्ट भावसे कहा, " ठहरो जरा । "

डिब्बोंकी देख-भालके बाद लौट आकर हरिप्रसन्न बोला, " भाभीजी बडी लापर्वाह हैं । "

" अब आ रही हैं शामको, तब खबर लेना । "

हरिप्रसन्न इस उत्तरपर कुछ ठिठक-सा रहा । कहा, " देखो न, मसाले भी पूरी तरह नहीं हैं । खाना अच्छा न बने तो मेरा ही दोष न होगा । "

श्रीकान्त हँसनेको हो गया—" बेशक न होगा । लेकिन तुम इतनेमें नहा-धोकर निबटो, मै दफ्तर हो आऊँ । देखो, हो सका तो जरूर तुम्हारा शिष्यत्व करने रसोईमें पहुचूँगा ।...हाँ तुम्हें सौ रुपये एकदम अभी चाहेंगे ? शायद अभी तो नहीं मिल सकेंगे । "

" चाहिए तो अभी । "

" अभी ? "

" हाँ, शाम तक । "

श्रीकान्तने देखा हरिप्रसन्नका चेहरा अँधियारा-सा पड़ता जाता है। मानों इस स्थलपर वह अपने साथ समझौता नहीं चाहता। कहा, "शामको तो वह ही आयेंगी। तब तक कैसे होगा ?"

"नहीं होगा ?"

"कैसे होगा ?"

"होना चाहिए, श्रीकान्त !"

श्रीकान्त मानों अपने मनके भीतर अपनेको अपराधी स्वीकार करने लगा। मानों वह अपना कुसूर देख रहा है, मानों उस दोषको स्वीकार कर लेना चाहता है। उसने कहा, "अच्छी बात है, देखो।" कहकर चले जानेकी उसमें ऐसी कातरता हो आई कि हरिप्रसन्नको अवकाश ही न रहा कि कुछ कहे। श्रीकान्त चला आया और हरिप्रसन्नने उसे चले आने दिया।

क्षण-भर हरिप्रसन्न, अँधियारा और अज्ञेय, अचल ओर पराभूत, भूला-सा वहीं-का वहीं खड़ा रहा। फिर धीमेसे मानों अनिश्चयपूर्वक उसने डग बढ़ाया। एक डग, दो डग, तीन डग। इस प्रकार पाँच सात कदम रखते रखते उसमें एक प्रकारकी तत्परता भर आई। तब अपनी छोड़ी हुई बुहारी खोज लेकर वह झट-पट सफाई करनेमें लग पड़ा। अत्यन्त व्यस्त भावसे वह कर्ममें लग पड़ा और लगा ही रहा। सफाईके बाद नहाया, धोया। सब काम बड़ी फुर्तीसे किये। अतमें वह इस भाँति खाना बनानेमें जुट पड़ा, मानों कर्त्तव्यसे चारों ओरसे जड़ा है, आदेशमें बँधा है।

श्रीकान्त जब ऑफिससे थोड़ी देरके लिए छुट्टी लेकर इधर आया, देखा, हरि मनोयोग-पूर्वक खाना बनानेमें व्यस्त है। उसने कहा, "महाराजजी ! कितनी देर है ?"

हरिप्रसन्न हँसा नहीं, मुस्कराया भी नहीं, बोला, "आओ, कुछ देर नहीं है।"

"आकर मदद दूँ ?"

"नहीं नहीं, थाली लेकर बैठो।"

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा", और यह कहकर कमीज उसने उतार दी और सिर्फ बनियान पहिने चौकेमें आ गया। तब उसने हुए आटेमें हाथ लगाकर उसने कहना प्रारम्भ किया कि वह बहुत गीला हो गया है, या कि बहुत सख्त है, बनती हुई दालका एक कन हरीसे माँगकर बताया कि वह हो तो गई है, उतारते क्यों नहीं, और कि उसमें हल्दी ठीक नहीं पड़ी है, क्योंकि वह सुन्दर तो

दीखती नहीं, और चटनी बनाई? नहीं बनाई? वाह, क्यों नहीं बनाई? और यह कहते कहते जल्दीसे उठकर सिलबट्टेको पानीसे धोने लगा, चटनी तो बनाई नहीं, देखो मैं बनाता हूँ।

कहकर जोर शोरसे मल मलकर सिल और बट्टेको पानीसे धोने लगा।

हरिप्रसन्नका जी यह सब देखकर खिल पड़नेको मानों लाचार ही हो गया। उसने कहा, "चलो, बहुत हुआ। ऊधम छोड़कर ठीक तरह पटरा थाली लेकर बैठो। सुना नहीं?"

"नहीं, चटनीके बिना भी कहीं खाना होता है! देखो मैं बनाता हूँ।"

"अच्छा बनाओ।"

सिल और बट्टेको तीसरी बार रगड़-रगड़के धोकर श्रीकान्तने कहा, "लेकिन बताओ तो, इसमें क्या क्या चीज़ें पड़ेगी। नहीं तो बनाऊँगा कैसे?"

हरिप्रसन्न हँस न पड़ा, यह बहुत समझो। उसने कहा, "देख ली आपकी चटनी, अब बैठिए।"

"तो चटनी नहीं बनेगी? वाह, यह क्या बात है!"

हरिप्रसन्नने कहा, "चटनी नहीं बनेगी, लेकिन रोटी बनेगी। वह तवा तो देना।"

श्रीकान्तने जल्दीसे उठकर जहाँ बताया था वहाँसे तवा लाकर दे दिया और पूछा, "दाल हो गई?"

"हो गई।"

"रोटीकी लोई मैं बना सकता हूँ, बहुत उम्दा।"

"यह बात है! अच्छा बनाओ।"

मतलब, कि श्रीकान्तके निपट अबोध व्यवहारने हरिप्रसन्नके भीतर कहींसे घुमड़ घुमड़कर उठकर आते हुए अँधियारे काठिन्यको, फूँकसे बगूला जैसे उड़ जाय, वैसे उड़ा दिया। हरिप्रसन्नको लगने लगा कि इस श्रीकान्तका यह वश नहीं है कि सौ रुपये मेरी माँगके विरोधमें अपने पास रोक रक्खे। लेकिन यदि रुपये हरिप्रसन्नको न मिले तो भी इस श्रीकान्तके प्रति वह कठिन नहीं हो सकेगा, नहीं हो सकेगा।

श्रीकान्तकी सरलता देख, किन्तु, हरिप्रसन्नका चित्त एक प्रकारके भयसे भी जैसे दबा आता है। सबको अवकाश देनेके लिए उद्यत वायुके प्रति क्या तलवारकी धारमें स्पर्धा हो सकती है? वह धार हवाको कैसे काटे? उसका पैनापन उस जैसी वस्तुके आगे तो मानों व्यर्थ ही हो जाता है। जो तीखी धार सब कुछ

काट देगी, स्वच्छ तरलताको वही किस दाँतसे काट सकती है ? तीखेकी, पैनेकी स्पर्धा यहीं कुण्ठित होती है। उसका अहंभाव यहीं आकर मानों क्षार-क्षार होना चाहता है। उत्तापके लिए इससे बड़े भयका हेतु और क्या है कि कोई उससे न तपे। तब उसे अपनी ही तपनकी व्यर्थता मानों डसनेको आती है। यहीं शक्तिकी मर्यादा है, गर्व यहीं खर्व होगा। दम्भका यहीं स्खलन है, दर्प यहीं नमता है।

हरिका चित्त मानों एक प्रकारकी व्यर्थताके बोझके नीचे सकुचित हो रहता है। सकुचनमेंसे ही अहंकारका उदय है, भयकी भीति है। मानों कुछ उसके भीतरसे ऐंठता हुआ उठता है—क्यों, तू अविजित है ? तू जयी है ? अरे तू तो अधम है, अधम है।

खाना खानेके बाद श्रीकान्त चलनेको हुआ तब हरिप्रसन्नने कहा, "सौ रुपये तो तुम मुझे दे दोगे, यह मैं जानता हूँ। लेकिन पाँच सात रोज अपने घरमें ही मुझे रहने दो न। जाकर भाभीजीसे कहो कि मैं तुम्हें खूब अच्छी तरह खिला-पिलाकर रख लूँगा, वह यहाँ आनेकी चिन्ता न करें। पाँच सात रोज़में मैं चला जाऊँगा, तब आवें। इतने तुम्हारी सेवा मेरे जिम्मे रहने दें।"

श्रीकान्त एकदम मानों कहीं गहरेमें छू गया। बोला, "हरिप्रसन्न !—"

इतना कहकर श्रीकान्त रुक पड़ा। उसने हरिप्रसन्नको स्थिर दृष्टिसे देखा। फिर कहा, "क्या कहते हो, हरिप्रसन्न ?"

हरिप्रसन्न विचलित होते होते भी सँभला। कहा, "तुम्हें उनके पीछे कोई तकलीफ न होगी इस बातका उन्हें मेरी ओरसे विश्वास दिला सकते हो। इसके बाद वह यहाँ आना जरूरी न समझें, तो कोई हर्जकी बात नहीं है।"

श्रीकान्तने स्थिर दृष्टिसे हरिकी ओर देखते हुए स्थिर वाणीमें कहा, "हरि, वह शामको यहाँ आ रही हैं। रुपयेकी बात भी उनपर मौकूफ है। मेरी चिन्ता उनका काम है। जीवन-भर वह काम उनसे छिनकर अलग न होगा। यह उनका व्रत है, उपासना है। और आज मैं क्या जानता हूँ कि उस व्रतके साथ तुम्हारी भी चिन्ता उठने योग्य सामर्थ्य उनमें न होगा। झंझट न उठाओ, उन्हें आने दो। (मुसकराके) तुम्हारा सब पाक-चातुर्य और बुहारी-रोग तब व्यर्थ हो जायगा। तुम आराम करना, आराम।"

हरिप्रसन्नके अधिक कसे चित्तको मानों यहाँ बेठीक ठोकर लगी। जो स्वर उसमेंसे ध्वनित हुआ, उसमें खरखराहट विशेष थी, "रुपयेकी बात तुमने उनसे की ?"

" न करूँ, इससे गुजारा होगा ? "

" देंगी, तो वही देंगी ! "

" और कहाँसे पाऊँगा ! "

हरिप्रसन्न कुछ सोचता रह गया। उसने अन्यस्थ भावसे गुनगुनाया-सा— ' अच्छा ' और वह अपने खानेकी सँभालमे लग गया।

श्रीकान्त चलने लगा, बोला, " मैं कचहरीसे जल्दी आ जाऊँगा। किसी चीज-की जरूरत तो नहीं है ? "

" कुछ नहीं। शाम तक तुम मेरी तस्वीरको लकीरे ही लकीरें नहीं पाओगे। तुमने उसे देखा ? "

" अभी मैं उसे क्या समझूँगा। शामको देखूँगा कि तब भी समझ पाता हूँ या नहीं ! "

श्रीकान्त चला गया।

२७

फुर्सत पाते ही हरिप्रसन्न चित्रमें लग गया। ऐसा लग गया कि कब दोपहर ढलकर तीसरा पहर होनेके निकट आ गया, कुछ पता ही न चला। अब सन्ध्या भी हो जायगी। चित्र बनाते बनाते जो बीच बीचमें सिरको दोनों हाथोंसे पकड़कर वह उठ खड़ा हुआ है, टहला है, कागज़के रद्दी टुकड़ोंको उठाकर चीर चीरकर जो उसने इधर-उधर फेंका है, कभी गुनगुनाया है, कभी आँख मींचकर सुन्न बैठा रह गया है—सो यह सब चित्र बनानेकी प्रक्रियाका ही अंश समझा जाय। इन सब बातोंमें भी उसे समयका अथवा दुनियाका ध्यान नहीं रहा है।

धीरे धीरे उसे भास हुआ कि उसकी आँखका प्रकाश तो कहीं कम नहीं हो रहा है ? साँझ आती जाती है और कमरेका उजेला छीजता जाता है, जब मालूम हुआ कि असली बात यह है, तब वह खड़ा हुआ, टहला, सुस्ताया। पर कुछ ही देरमें बिजलीकी बत्ती उसने खोल ली। उस समय देखते देखते वह बनता हुआ चित्र उजला हो आया। तब फिर वह उस चित्रके तटपर बैठ गया, उसे निहारने और बनाने लगा।

कामके बीचमें उसे मालूम हुआ कि सहसा कोई कोलाहल बिल्कुल मकानके बाहरके चौकमें ही आ पहुँचा है। एकाएक तो वह कोलाहल ही लगा, फिर शनैः शनैः ऐसा लगने लगा कि वह जैसे कोलाहल ही नहीं है जो अप्रिय हो, बल्कि

उसमें परिचित भी कुछ है, खिलखिलाहट भी है, जो प्रीति-भाजन हो। लेकिन यह सब कुछ उसे अपनी मग्नतामें व्याघात-स्वरूप ही लगा। वह कुछ झुँझलाता सा बाहर आया—देखता क्या है कि आ रही हैं भाभी और सत्या। उसके पैर बँध गये। अनुभव हुआ कि वह एकदम लौटकर भाग नहीं सकता। दीखा कि दोनों बढ़ी ही आ रही हैं। और भी दिखा कि उनके पीछे ज़ीना पार करके आविर्भूत हो गया है श्रीकान्त भी, जिसके हाथमें एक ओर थैला लटका है, दूसरेमें पोटली-सी थमी है। लगभग साथ ही साथ उस जीनेमेंसे निकलकर आया एक नौकर भी, जिसके सिरपर सामानका एक गट्ठर लदा हुआ है।

"नमस्ते!"

हरिप्रसन्नने भी नमस्तेकी जैसी ध्वनि की, अनायास माथा झुका और हाथ भी कुछ जुड़े-से।

दीखा कि नमस्ते कहकर भाभी अकचका नहीं रही हैं, सो नहीं है। और पीछे लगी सत्या मानों जतला रही है कि 'जैसी मुझसे हो सकी वैसी नमस्ते मैंने कर ली है। तुम नहीं जानते तो मैं भी नहीं जानती, मैं जोरसे बोलकर नमस्ते कहनेवाली नहीं हूँ।' वह भाभीकी परछाईंमें चल रही है कि 'मैं कर चुकी हूँ जी नमस्ते।'

सुनीता अकचका न जाय तो क्या करे। यह हरिप्रसन्नका रूप क्या हरिप्रसन्नके जैसा है? देखो न, कैसा विचित्र लगता है! और यह महाशय क्या सोते रहे हैं कि आँखमें सपना भरा है? माथेपै पसीना कैसा है?

बहुत ही पास आ गई तब पूछा, "आप सकुशल तो हैं?"

उत्तरमें अवश्य हरिप्रसन्नने कुछ न कुछ कहा। पर मानो वह अपनेसे अप्रसन्न था।

श्रीकान्तने आगे आकर कहा, "कहो हरी, जान पड़ता है तस्वीरमें लगे रहे लेना सत्या, यह झोला लेना, और यह पोटली भी सँभालना, देखो गिरे नहीं।"

'ग़लत, गलत, ग़लत!', मानों सुनकर सत्याके मनमें यही बजा। और मानों अपनी पद-चापमें यह 'गलत, गलत' की झनकार देती हुई वह पास आ गई, चुपचाप झोला ले लिया, पोटली सँभाल ली और अविलम्ब लौटकर चलती चली गई।

आगेसे सुनीताने कहा, "ओ रामदयाल (नौकर), इधर ले आ, इधर।"

और रामदयाल अपने सिरपर सामान लेकर उधर बढ़ता चला गया।

वे सब सामनेसे चलते चले गए तब हरिप्रसन्न लौटकर अपने कमरेमें चले जानेको बढ़ा। श्रीकान्तने कहा, "कहाँ जाते हो? चलो घूमने चलते हो? बाहर

गाडी खड़ी है, आओ ज़रा घूम आयें।"

हरिप्रसन्नने तनिक दृढ़ स्वरमे कहा, "नहीं।"

"अरे, तुम्हें घरमे आलस नहीं आता। सुहावना समय है, आओ चले।"

हरीने कहा, "नहीं। लेकिन एक बात सुनोगे?"

हरिप्रसन्न मुड़कर स्टडी-रूमकी ओर चला। पीछे पीछे श्रीकान्त भी बढ़ता गया। स्टडी-रूममें पहुँचकर हरिप्रसन्न एकाएक रुका, मुड़ा, बोला, "श्रीकान्त, मुझे आज ही शामको सौ रुपए एकको दे देने हैं। वह व्यक्ति आएगा। उसको मैंने विश्वास दे दिया है।"

श्रीकान्तने इतना ही कहा, 'हरिप्रसन्न।' और वह उसे देखता रह गया।

हरीने अधूरी तस्वीरको संकेतसे दिखाते हुए कहा, "वह चित्र देखते हो? पूरा होनेपर सौसे कुछ ज्यादा ही उसकी कीमत लगेगी, इसकी मैं गारंटी दे सकता हूँ, श्रीकान्त!"

श्रीकान्तकी भौंहे सिकुड आईं। पूछा, "वह कौन है?"

"कौन है, यह मैं भी नहीं जानता हूँ। एक दलका सदस्य है, विश्वसनीय है। दलका काम अटका है, रुपए उसको पहुँचने चाहिए।"

श्रीकान्तने कहा, "मुझे अभी घूमनेकी छुट्टी दे सकोगे? जरा खुली हवामे जाऊँगा।"

हरिप्रसन्नने असमंजसमें कहा, "तो?"

श्रीकान्तने कहा, "मैं जल्दी ही लौटूँगा।"

हरीने कहा, "लेकिन वह व्यक्ति आना ही चाहता होगा।"

"कब आएगा?"

"किसी समय भी आ सकता है।"

"मै एक घण्टेके भीतर ही लौटूँगा।"

हरिप्रसन्न श्रीकान्तकी इस स्थितिपर चकित रह गया। उसने कहा, "श्रीकान्त!"

श्रीकान्तने 'बाहर गाड़ी खड़ी है' कहकर हरिप्रसन्नके हाथको अपनी मुट्ठीमें लेकर तनिक दबाया और छोड़ दिया, कहा, "हवाकी मुझे बेहद जरूरत है। क्षमा करना, मैं अभी आऊँगा। इतने तुम्हारी भाभी यहाँ हैं ही।" कहकर श्रीकान्त चला गया।

हरिप्रसन्न खोया-सा खड़ा रह गया। क्या वह अकृतकार्य हुआ है? किन्तु यह प्रतीति भी उसके मनको नहीं है। उसे मालूम हो रहा है कि जिसको रुपए देने

हैं, देने ही हैं। रुपएकी बातको वह तुच्छ गिनता है, फिर भी परिस्थिति ऐसी है कि यही बात कठिन हो पड़ी है। इसपर उसे झुँझलाहट हो रही है। क्या उस लड़केके आनेपर जतलाना होगा कि पैसा हो नहीं सका है, यत्न करेंगे? छिः-छिः!··

वह उस छोटे-से कमरेमें ही घूमने लगा—

··क्या राष्ट्रका एक कार्य पैसेके अभावमे अटका रहेगा? व्यक्तियों तकके काम नहीं अटके रहते हैं, तब यह अटका रहेगा? सौ रुपए कोई चीज है? जिसके पास सौ रुपया खाली है, उसके पास वह क्यों खाली है, जब कि देशका काम रुका पड़ा है? क्या ऐसा भी सम्भव होगा कि वक्तपर रुपया न मिले? नहीं नहीं, ऐसा नहीं होने देना होगा।...

वह जोर जोरसे टहलने लगा। थोडी देर तक सोच-विचारमें इस तरह चलते-चलते कमरेसे बाहर निकलकर वह उस ओर चल पड़ा, जिधर सुनीता और सत्या गई थीं। किन्तु उनके कमरेके दरवाजेके पास पहुँचकर वह ठिठककर रह गया, अन्दर नहीं चला गया। बाहर खड़ा खड़ा सोचने लगा कि आवाज दे? या न दे? या यों ही भीतर चला जाय? इतनेमें सत्या उस दरवाजेपर आई। हरिप्रसन्नको देखकर वह विस्मियमें पड़े कि हरिप्रसन्नने पूछा, "भाभीजी भीतर हैं? क्या कर रही हैं?"

सत्या बिना कुछ जवाब दिए झटपट अन्दर भाग गई।

तब अप्रतिहत भावसे हरिप्रसन्नने दरवाजेके बाहरसे पुकारा—भाभीजी!

थोडी देरमें सुनीताने दरवाजेपर आकर कहा, "मुझे पुकारा आपने?—कहिए? कहिए—"

उस समय हरी सब कुछ भूल जाने-सा लगा। उसे न भूमिका सूझ सकी, न प्रस्तावनाकी आवश्यकता। दहलीज़पर खडी अप्रस्तुत भाभीके सामने खडे ही खडे हरिप्रसन्न कह बैठा, "सौ रुपए चाहिए भाभीजी!"

सुनीता देखतीकी देखती रह गई।

"अभी चाहिए?"

"अभी आठ बजेसे पहले पहले। श्रीकान्तसे भी मैंने कहा था, आपसे भी कहता हूँ। आप न दे सकें, इकार कर दीजिए। दे सकें, अभी दे दीजिए। आपको अचरज तो होगा, लेकिन जिसके लिए चाहिए वह काम तो रुक न सकेगा—।"

सुनीताने पूछा, "'वह' कहाँ है?"

हरिप्रसन्नका जी इसी स्थलपर कच्चा है। यह सुनीता हर बातमें पूछेगी, 'वह कहाँ हैं ?' और श्रीकान्त हर बातमें कहेगा, 'उनसे कहूँगा।' यह कैसी बात है! उसने कहा, "घूमने चले गए हैं।"

सुनीताने कहा, "मैं अभी दो मिनटमें आपके पास आती हूँ, आप चलें।"

हरिप्रसन्नने चाहा कि कहे, 'नहीं नहीं, इसी मिनट, इसी पल चलना होगा। सब काम बरतरफ़ करके मेरी बात क्यों नहीं सुनी जाएगी ?'—लेकिन कहा उसने कुछ नहीं, खड़ा ही रह गया।

"आप चलिए, मैं अभी आती हूँ। सुना, आप रात बड़ी देर तक जागते रहे। वह तसवीर भी देखनी है।"

हरिप्रसन्नको अब भी हिलना-डुलना नहीं सूझा।

सुनीताने मुस्कराकर कहा, "सच, मैं अभी आई। रुपयेकी चिन्ता मत कीजिए। मैं जानती हूँ, उसमेंकी पाई भी आपके लिए खर्च न होगी। तब हम रुपये न भी दे सकें, तो भी कोई चिन्ताकी बात न होगी।"

हरिप्रसन्नने कहा, "क्या मेरा है, क्या मेरा नहीं है, इसे मुझे जानने दीजिए। हाँ, यह मैं जानने लग रहा हूँ कि मेरे होकर रह सकें ऐसे सौ क्या, एक रुपया भी आपके पास शायद नहीं है।"

सुनीताने कहा, "ऐसी बातें तो आप उनसे कीजिए, वह आपके मित्र हैं। मैं इस योग्य नहीं हूँ। आप इतने चलें, मैं आती हूँ। बेशक हमारे पास पैसा फिजूल नहीं है। हमारेसे मतलब, उनके पास। मेरा अपना पैसा क्या है? (बायें हाथसे अपनी दाईं कलाईमें पड़ी हुई सोनेकी दो चूड़ियोंको घुमाते हुए) यह चूड़ियाँ हैं, इन्हें ले सकियेगा ?"

हरिप्रसन्न परास्त होनेका आदी नहीं है। किन्तु सामने जो दुर्ग है, उसके तो चारों ओरसे ही मार्ग बन्द है, जयके लिए फिर किस सूत्रका सहारा लिया जाय?

उसने कहा, "आप आ तो रही हैं न ?"

"हाँ, अभी आ रही हूँ।"

—और इससे पहले कि हरिप्रसन्न चलनेकी सोचे, सुनीता वहाँसे गायब हो गई।

सत्या भीतर फैले हुए सामानको यथा-स्थान लगानेमें दत्त-चित्त थी। यथा-स्थान? यथा-स्थान न सही तो भी क्या, उस अभी हाल-आए सामानके पैकेटोंके साथ उठा-धर तो वह कुछ न कुछ कर ही रही थी। जीजीके लौटनेपर उसने पूछा—क्या था?

जीजीने कहा, "कुछ नहीं।"

सत्याने मन ही मनमें कहा, 'हुँः!'

सुनीताने कहा, "अरी, जल्दी-जल्दी कर। खाना भी तो बनना है। सुनती है?—मै अभी जाकर तेरी पढ़ाईकी बात पक्की कर आती हूँ। इसे छोड़, इतने तू रसोईमे जाकर आग-वाग सुलगा, कुछ शुरू कर। मैं थोड़ी देरमे पहुँचती हूँ।"

सत्याके मनमें फूल-फूलकर उठने लगा वही शब्द—'हुं.', और वह चुप रही।

"तुझे जानेकी जल्दी तो नहीं है न? आज यहीं रह जा। अरे, इस सामानको छोड न, रसोईमें जाकर देख, यहाँका मैं सब ठीक किये देती हूँ।"

सत्या बोली, "मैं उनसे नहीं पढ़ूँगी।"

सुनीताने हँसकर कहा, "वह तो खैर देखा जायगा, लेकिन आजके लिए परॉवठे ही डाल लेंगे, और क्या?"

इस बीच जब कि सत्याके हाथ अनायास काममें शिथिल पड गये थे, सुनीता जल्दी-जल्दी चीजें सँगवाकर रखती जाती थी। इस कामको झटपट निबटाकर सुनीता हरिप्रसन्नके कमरेके लिए चल खडी हुई। सत्यासे कहा—देख, मैं जाती हूँ। खानेमें देर न हो जाय कहीं। भला?

सत्याने मानों जोर लगाकर कहा, "कोई ऐसा जरूरी काम है, जीजी?"

जीजी मुस्कराई—हॉ, काम तो है।

सत्याके मनमें फिर वही घुमडता हुआ भाव उठा—'हुँः'।

२८

जीवनके दो ढङ्ग हैं। एक तो यह कि बहुत सोचते विचारते हुए चला जाय। दूसरा यह कि अपने सहज भावसे चलते जाया जाय, सोच-विचारकी पोट कम-से कम बॉधकर अपने पास रक्खी जाय। अँग्रेजीका एक शब्द है, सेल्फ-कॉन्शस। अपने सम्बन्धमें जब हमारी चेतना हमारे भीतर रमी हुई, समाई हुई नहीं रहती, एक पृथक् पिण्डकी भॉति, 'कॉम्प्लेक्स' गॉठ-सी बनी भीतर अनसमाई-सी छलकती-उछलती रहती है, तब आदमीको चैन नहीं पडता। मनुष्य-नामक सबुद्धि प्राणीमें सोच-विचारका सिलसिला तो यों किस क्षण टूटता है, वह तो चलता ही रहता है। किन्तु उस सोच-विचारमें मनुष्यका 'अहम्' बहुत मिला रहे तो गड़बड़ होती है। उसीको कहते हैं 'सेल्फ-कॉन्शस'। इस स्थितिमे मनुष्यके व्यवहारका सरल भाव नष्ट हो जाता है। अत्यन्त सोच-विचारके भारको ऊपर

लेकर जीवन चलानेकी नीतिमें यह खतरा है ही । जीवन-व्यापारकी जो दूसरी पद्धति है, अर्थात् सहज भावसे रहना, सोच-विचारके साथ अपनी खातिर ममत्व न रखना और उस परिग्रहके प्रति असंलग्न रहे चलना—हमें तो वह प्रिय लगती है । यह वैसी भारी भी नहीं है ।

सुनीता सीधी स्टडी-रूममे ही चलती चली आई । विशेष सोच-विचारके लिए उसने अपने तई पृथक् फुर्सत नहीं निकाली ।

हरिप्रसन्न कुछ कर न पा रहा था । अपनेको लेकर झमेलेको ही सुलझानेके यत्नमें उलझ रहा था । दृष्टि चित्रमे गडी थी, फिर भी उस चित्रके भाव तो क्या, रूप तकको वह नहीं देख रहा था; ऐसी दूरस्थ वह दृष्टि थी ।

' मुझे देर तो बहुत नहीं हुई, मैं समझती हूँ । "

—यह सुना, तब मानों हरिप्रसन्न जागा ।

हमने हरिप्रसन्न और सुनीता नाम दिए हैं । वे नाम झूठ नहीं हैं, पर नाम ही हैं । सुनीता स्त्री है, हरिप्रसन्न पुरुष है। उन नामोंके बहुत नीचे जाकर उन दोनोंमें एक केवल स्त्री रह जाती है, दूसरा, पुरुष रह जाता है । अपने चलन-व्यवहारमें चलनेवाले नाते-रिश्ते और नाम-धाम असत्य वस्तु नहीं है, पर प्राणीके प्राणोंमें बहुत गहरे जाकर मानों वे सब कुछ ऊपर सतहपर ही छूट जाते हैं । तब कहना होता है—' अरे अमुक तो स्त्री ही निकली ! ' ' देखो न, हम उसको ऐसा (सज्जन अथवा दुर्जन, क अथवा ख) समझते थे, वह तो हम-तुम-जैसा ही निकला ! ' नाना सज्ञाओं, विशेषणो और विविध सर्वनामोंके सहारे जो मनुष्य-जाति अपना काम चलाती हुई जी रही है, प्रथमतः वह द्विविध है—स्त्री और पुरुष । कुटुम्ब-परिवार पीछे आते हैं, नाते-रिश्ते, नाम-गोत्र, मत-पथ, वर्ण-सम्प्रदाय, सब पीछे आते हैं । यह हमको भूलना नहीं है कि जो सुनीता है, वह सुनीता ही है, और हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न है। पर यह भी नहीं भूलना है कि सुनीता नामके तले सग्रहीत व्यक्तित्वके भीतर वह मात्र और प्रकृत स्त्री है, उसी भाँति दूसरा भी अपने नामकी अभिधा ओढकर बस पुरुष है ।

हम कहते हैं पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता और पुत्र, बहिन और भाई । वह सब ठीक है । वे तो स्त्री-पुरुषके मध्य परस्पर योगायोगके मार्गसे बने नाना सम्बन्धोंके लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं । किन्तु सर्वत्र कुछ बात तो सम-भावसे व्यापी है । सब जगह स्त्री-पुरुष इन दोनोंमें परस्पर दीखता है आंशिक

समर्पण आत्मिक स्पर्धा। सब कहीं एक-दूसरेके प्रति इतना उन्मुख है कि वह उसको अपने भीतर समा लेना चाहता है। सब नातोंके बीचमें और इन सब नातोंके पार भी, यही है। एकमें दूसरेपर विजयकी भूख है, किन्तु एकको दूसरेके हाथों पराजयकी भी चाहना है ही। एक दूसरेको जीतेगा भी, किन्तु उसके लिए मिटेगा भी कैसे नहीं? दोनोंमें परस्पर होड है, उतनी ही तीव्र, जितनी दोनोंमें परस्परके लिए उत्सर्ग होनेकी काक्षा। वे दोनों विरोधी भाव स्त्री-पुरुषके बीचमें सम-तोल हैं। समतोल इस लिए नहीं कि वे बँटे हुए हैं, प्रत्युत इसलिए कि वे दोनों ही वहाँ अपनी अपनी पूर्णतामें हैं। जहाँ इन दोनोंका विरोध भी सिद्ध है और समन्वित ऐक्य भी, उस विस्फोटक महा तत्त्वके लिए, अरे, क्या शब्द है? उसे किस सज्ञाके सहारे निर्देश करके हम भौंचक रह जाते हैं?...

लेकिन हम कहानी कहें—

सुनीता कहती आई—मुझे बहुत देर नहीं हो गई है, मै समझती हूँ।

यह सुना, तब हरिप्रसन्न जागा। वह उठा, अभी तक नीचे फर्शपर बैठा था अब उठकर एक कुर्सी ले आया, कहा, "बैठिए।"

सुनीता बैठ गई। उसके बैठते बैठते दूसरी कुर्सी भी वह खींच लाया। किन्तु उसपर बैठा नहीं, उसकी पीठपर दोनों कोहनी टिकाकर झुका हुआ खडा रह गया।

सुनीताको तनिक भी यह नहीं सूझा कि उसे भी कहना चाहिए—'बैठिए'। उसने कहा, "मुझे खाना भी बनाना है। वक्त ज्यादा नहीं है, इसके लिए आप माफ कर देंगे न। मैं पूँछ सकती हूँ, रुपया आपको किसलिए इस जरूरी तौरपर चाहिए?"

"नहीं पूँछ सकती हो।"

बात जैसे एक साथ ही घनघोर हो पडने लगी। तो हो पडे घनघोर, सुनीता दबती ही क्यों जाय?

"तो इन्कार भी नहीं कर सकती हूँ?"

"जरूर कर सकती हो।"

"तो यह तो समझा ही जा सकता है कि अँधेरेमें पैसा फेंकना किसीको अच्छा नहीं लगता है। पैसा कामकी चीज है।"

"लेकिन अँधेरेमें क्यों? मैं अँधेरा नहीं हूँ, सदेह व्यक्ति हूँ, मुझे क्यों नहीं दे सकती हो?"

" क्योंकि मुझपर कोई लाचारी नहीं है।"

" लाचारी ?"

" जी हाँ, लाचारी। बताइए, मैं क्यों बाध्य हूँ ?"

" मैं नहीं कहता बाध्य हो, लेकिन—"

" लेकिन क्या ?"

" लेकिन मुझे जानना बाकी है, कि किस लाचारीसे तुम मेरे लिए भाभी हो! —बता सकती हो ?"

" बतानेकी बात हो तभी तो कुछ बता सकूँ। हाँ, भाभी हूँ, इसीसे इन्कार करती हूँ। भिखारीको नहीं तो कब मुझसे इन्कार किया जा सका है ?"

" तो, तुम्हे मेरे पाप-पुण्यकी चिन्ता है ?"

" सो भी क्यों न हो ?"

" यों न हो, कि मैं खिलौना नहीं हूँ।"

सुनीता हँस पडी—" मै जानती हूँ, नहीं हो।"

एकाएक हरिप्रसन्नमें एक दुर्जय भाव उठा, दुर्गम, दुर्द्धर्प। वह कुर्सीकी पीठको छोड, सुनीताके सामने ही आकर उस कुर्सीपर बैठ गया और बोला," देखो भाभी, मुझे पर्वाह नहीं भाभीपनकी। लेकिन मैं चाहता हूँ मैं समझा जाऊँ। एक लडका अभी आयेगा। मैंने वादा किया है कि आज शाम उसे रुपये मिलेंगे। वह एक दलका सदस्य है। वह दल देशके लिए बलि होनेवालोंका है। मेरा वादा क्यों झूठा होगा ? उनका काम क्यों अटका रहेगा ? क्या इसलिए कि तुम्हारी इच्छा नहीं हो सकी है कि रुपये दो ?"

" हाँ, इसलिए भी। वादा मेरा नहीं है।"

" लेकिन मेरा तो है, और मैं तुम्हारे सामने हूँ।"

" तो तुम जानो," सुनीताने कहा, " और मुझे काम है, मैं जाती हूँ।"

सुनीता उठ खडी हुई। उस समय हरिप्रसन्नने हाथ बढाया, और जोरसे उसकी दाईं कलाई पकड ली—

" कहाँ जाओगी, बैठो!"

सुनीताने हाथ छुडानेका बिल्कुल प्रयास नहीं किया। उसका चेहरा फक् पड गया, आतंकसे नहीं, अश्रद्धासे। वह उसकी ओर देखती रह गई।

हरिप्रसन्नने कहा, " सुनीता!"

' सुनीता!' यह इस भाँति कहा मानों सुनीता नाम नहीं है, उस पदका तो

जैसे अन्वयार्थ है—'ओ अपदार्थ नारी!'

कहते कहते हरिप्रसन्नका पंजा सुनीताके हाथपरसे अलग हो गया।

सुनीता मानों बर्फ-सी पड़ती आई। उसने हरीकी आँखोंमें भरपूर देखकर कहा, "हरिप्रसन्न! क्या है?"

हरिप्रसन्नका तनाव इस साधिकार स्वरके आगे क्या ह्रस्व हो पड़ेगा? कहा, "तुम अपने प्रति अन्याय नहीं करोगी, भाभी, तुम कठिन नहीं होगी। कठिन तुम्हें नहीं होने दिया जायेगा। कठिन होनेके लिए तुम भाभी नहीं हो। सौ रुपये तुम ऐसे दोगी, जैसे अपने हाथकी रोटी दे देती हो। मुझे क्या यह पाना, यह देखना, यह समझना सह्य होगा कि सौ रुपये तुम्हारे हाथसे नहीं छूटते? नहीं नहीं भाभी, इसे मैं कभी सम्भव नहीं होने दूँगा। ऐसा हो, इससे पहले भाभी, मैं अपनी मूर्तिको तोड़ दूँगा, या अपनेको तोड लूँगा। मुझसे यह न देखा जायेगा। रुपया क्या है? वह धातु नहीं है? मिट्टी नहीं है? वह तो मैल है, जो मैलका पोषण करता है। फेंकनेमें ही उसके कृतार्थता है। उसीको छोड़नेसे तुम्हारा इकार, तुम्हारा सकोच, तुम्हारी ममता, अरे, तुम्हारी मौत भी क्यों नहीं है? मेरे लिए तो वह मौत ही है।"

सुनीताने कहा, "मुझे जाने दो।"

"अब भी इंकार करोगी?"

"मुझे काम है।"

"सुनीता!"

हरिप्रसन्नकी वाणी एक साथ ही रोष और करुणासे काँपती हुई निकली, जैसे बिजली काँपती है।

"मैं जाऊँगी। जाती हूँ। जाऊँ—"

"सुनीता!"

"जाऊँ?"

तब श्रीहत, गततेज, कटे वृक्षकी भाँति हरिप्रसन्न धपसे अपनी कुर्सीमें गिर गया। कहा, "जाओ।"

सुनीता साड़ीका सिरपरका पल्ला छूती हुई चली गई।

२९

हरिप्रसन्न अभी अपनी कुर्सीपर ही था, हिला-डुला भी न था, कि देखता है,

सुनीता फिर पलटकर चली आ रही है। पास आकर बोली, "एक बात आपसे कहना रह गई। मैं अभी सत्याको पढ़ानेके लिए भेजती हूँ। इस बारेमें पूछनेकी जरूरत तो नहीं मालूम होती थी, फिर भी—"

हरिप्रसन्नके पराजयको क्या यह नारी पराजय ही देखकर सन्तुष्ट नहीं है? क्या उसे और भी कुछ धार देना चाहती है? काटकर वहाँ नमकका लेप देने आ पहुँची है? उसने कहा, "मैं आपसे इस विषयमें क्षमा चाहता हूँ।"

"तो क्या सत्या न पढ़ने आवे? वह मेरे साथ घरसे फिर आई किस लिए है?"

हरिप्रसन्नने ऊपर देखा। देखा, कि जो सुनीता सामने खड़ी है, ऐसा तनिक भी प्रतीत नहीं होता है कि वह अपनेको बहुत मजबूत, कठिन बनाकर खड़ी है।—मानों कि वह तो बिल्कुल पकड़में आनेके लिए खुली खड़ी है।

उसने कहा, "मुझपर इसकी कोई लाचारी नहीं है।

"लाचारी?"

"जी हाँ, लाचारी—"

"लेकिन सत्याके साथ तो आपकी लड़ाई नहीं है न?"

"जी नहीं, आप मुझे माफ कीजिए।"

सुनीता चल खड़ी हुई, कहती गई—'सत्या अभी आ रही है। आप उससे कह-सुन लीजिएगा।'

हरिप्रसन्न यह सुनता हुआ बैठा रह गया। यह नारी अपनी बात कहती हुई और औरोंकी बात अनसुनी करती हुई चली जायगी, ऐसी यह कौन है? सच, कौन है?

सुनीता चौकेमें पहुँची। किन्तु यहाँ एक चोरीकी बात कहनी होगी।—

जब सुनीता स्टडी रूममें हरिप्रसन्नसे बात करने आई थी, उसके कुछ देर-बाद सत्याको मालूम हुआ कि खानेके बारेमें जीजीसे कुछ बात जरूरी तौरपर अभी पूछ लेने-लायक उठ आई है। पहले तो वह उसे जैसे दाबे रही, दाबे रही। लेकिन जब जीजी लौटकर आनेवाली ही नहीं दीखीं, तब सत्या बेचारी मानों लाचार ही होती चली गई। उस समय वह खिंची-खिंची उस स्टडी-रूमके दरवाजे तक चली आई। यहाँतक चली आई, तब यहीं तक रह गई। राम-राम, अन्दर कैसे जाय? सो-वहीं खड़ी खड़ी उन दोनोंकी बातें सुनती रह गई। क्या उन बातोंका वह एक शब्द भी सुनना चाहती है? लेकिन जब उनके अंग-अपभ्रंश अपने

आप उसके कानोंमें पहुँचने लगे, तब वह वहाँ ऐसे खड़ी रह गई, जैसे गड़ गई हो। मालूम हुआ कि उन बातोंका तो स्वर तीव्र होता जा रहा है। जब हरिप्रसन्नका स्वर एक ही साथ चढ़ उठा और सुनाई दिया, 'ठहरो, कहाँ जाती हो?' तब सत्या चिल्लाई—'बाबा रे!' और भागकर चौकेमें चली गई।

हमने कहा 'चिल्लाई'। चिल्लाई तो अवश्य, पर आवाज कलेजेसे कण्ठ तक भर आकर भी बाहर नहीं निकली। प्ररुद्ध, भीतर ही भीतर वह चिल्लाहट ऊधम मचाती डोलती रह गई। तब उसे मनमें लिये-लिये आकर सत्या अपने रसोईके काममें लग गई।

सुनीताने रसोईमें पहुँचकर कहा, "तबसे यह कर-धर कर रक्खा है? आग यों ही जा रही है, साग ही छोंक देती। वाह, अभी साग भी नहीं तराशा गया है! ऐसी करती क्या रही?"

सुनीता भला कहीं इस लड़कीसे रुष्ट थी? इस लड़कीके प्रति जो घनिष्ठ-प्रसन्नता उसके मनमें थी, वही इस उलहनेमें प्रकट हो रही थी।

सत्याने कहा, "मैं कर तो रही हूँ—"

"जरूर कर रही हो। अच्छा उठो, लाओ चाकू दराँत, मैं सब किये देती हूँ।"

यह कहकर सुनीताने एक ओरसे सागको थालीमें ले लिया, चाकू-दराँत भी खोजकर पा लिया, और बैठकर लगी काम करने। कहा, "अच्छा, सत्या, तू अपने पढ़नेकी किताबें तो साथ लाई है न?"

"एक लाई हूँ।"

"एक ही सही। इसे छोड़, किताब लेकर आ। अभी तो वह खाली हैं, पढ़ा देंगे।"

सत्याके मनमें हुआ—'नहीं, नहीं,' लेकिन वह एकाएक कुछ भी बोली नहीं।

सुनीताने कहा, "उठती क्यों नहीं है, सत्या!"

सत्या क्या यह कहे कि वह सब कुछ जानती है, और वह नहीं पढ़ेगी। वह क्या कहे? क्या यह कहे कि वह जानती है कि यह पढना नहीं है, बलि होना है? सो उसने कुछ भी नहीं कहा, चुप ही बैठी रही।

"सत्या! मैं क्या कह रही हूँ, सुनती नहीं हो?"

सत्या चुपचाप उठी, और चली गई। कमरेमें पहुँचकर उसने एक किताब ली और एक झपटमें उसके बीचके आठ-दस पन्ने फाड़कर अलग फेंक दिये। फिर उस किताबको लेकर वह चुपचाप स्टडी-रूमकी तरफ चली गई।

सत्या चलती ही चली गई। किन्तु बिलकुल पास पहुँच गई, तब भी, हरिप्रसन्नको सुध न हुई, वह सोचमें ही डूबा रहा।

सत्याने धीमेसे कहा, "मुझे जीजीने भेजा है।"

कानमें यह पड़ा तब वह चौंका। जैसे इस दुर्घटनाके लिए सर्वथा अनुद्यत हो। वह घबड़ाकर उठ खड़ा हुआ।

"हाँ—हाँ—आइए, आइए,—" उसने जल्दीमें कहा। उसे सूझ न रहा था कि वह इस समय क्या कहे, क्या करे?

सत्याने उसी बँधे स्वरमे कहा, "पढ़नेके लिए भेजा है।"

हरिप्रसन्न जल्दी जल्दी हाथकी उँगलियाँ आपसमें मलने लगा,—'जी हाँ, बैठिए। पढ़नेके लिए? मैं—बैठिए।'

सत्या मूर्ति-सरीखी ही कुर्सीपर बैठ गई।

यह हरिप्रसन्नके प्रति सरासर अन्याय है, छल है, छल। उसपर यह क्या विडम्बना ला डाली गई है, जब कि उसके लिए वह तनिक भी तैयार नहीं है। वह नहीं समझ पा रहा है कि इस परिस्थितिको कैसे निभाना होगा। अरे, यह उस नारीकी कैसी व्यूह-रचना है जो अपनेको भाभी कहती है!

"जी, मुझे पढ़नेके लिए भेजा गया है।"

"जी हाँ, बैठिए, बैठिए। आप, आप मुझे पाँच सात मिनटका वक्त दे सकेंगी?"

"मैं जाऊँ?"

"जी नहीं, बैठिए। मैं, देखिए—"

सत्याको मालूम हो रहा है कि परिस्थिति ऐसी नहीं है कि वह तनिक भी अपनेको बलि-पदार्थ मान सके। वह तो सहज इस परिस्थितिकी मालकिन भी हो सकती है। यह हरिप्रसन्न नामका व्यक्ति तो उस स्थितिको सँभाल सकेगा नहीं, वह चाहे तो उसे सम्हाल सकती है। क्या यही व्यक्ति था, जिसकी उसे आशंका होती थी? यह तो कैसा निरुपद्रव, बेचारा भटका-सा प्राणी है। इस व्यक्तिको क्यों दुर्लभ हो रहा है कि स्वस्थ रहे, वैसा खोया-सा क्यों हो पड़ा है?

सत्याने कहा, "अभी आप नहीं पढा सकेंगे? मै फिर आऊँ?"

"फिर?—जी हाँ, फिर कभी आइए तो ठीक है। लेकिन यह तो भूल है कि मैं पढा सकता हूँ। मैं क्या पढ़ा सकता हूँ?"

सत्या भी—जो अभी कठिनतासे ही नारी है, अभी तो जिसे कन्या ही कहें, वह भी—पुरुषकी इस बेचारगीपर सुलभ जयकी ओर बढ़े बिना जैसे न रह सकी।

और क्या वह यह भी नहीं जानती है कि जीजी अभी अभी यहाँ होकर गई हैं !

सत्याने कहा, " तो कब आऊँ ? "

" कब ? लेकिन पढ़नेके लिए आयेंगी ? यह मुश्किल है । "

" आप कह दीजिएगा तो नहीं आऊँगी । "

इतनी बातचीतके बाद हरिप्रसन्न काफी अनुद्विग्न हो आया । उसने कुर्सीपर बैठके कहा, "अच्छा, किताब तो जरा दीजिएगा। देखूँ, मैं कितना जानता हूँ।"

हरिप्रसन्नके अनायास बढ़े हुए हाथमें सत्याने पुस्तक दे दी । उसे तब अनुभव हुआ कि हैं, यह उसने क्या किया कि पुस्तकके पन्ने फाड़ दिये ! यह तो एकदम निरर्थक ही बात उसने की । फटी पुस्तककी ओट बनानेकी इस व्यक्तिसे बचनेके लिए क्या जरूरत है ? यह तो यों ही नख-दन्त विहीन मनुज है ।

" पुस्तक बिलकुल फटी हुई है ! खैर, इसे मेरे पास छोड़ जाइएगा, मैं देखकर कहूँगा कि मैं किस लायक हूँ । "

" कब तक देख लेंगे ? "

हरिप्रसन्न मानों अपनी इच्छाके विपरीत घिरता चला आ रहा है, " कब देख लूँगा ? सोचता हूँ, जल्दी ही देख लूँगा । "

" कल मुझे शामको फिर आना होगा । तब तक देख लें, तो अच्छा है ।"

" हाँ, तब तक देख लूँगा । "

पढाईकी बात अब समाप्त हो गई । लेकिन सत्याके मनमें और भी बात बची है, इससे वह वहाँ बैठी ही है, चली नहीं गई । उसने चौकमे एक कटोरेमें छोटी छोटी तीन चार रोटियाँ ढकी हुई रक्खी देखी हैं । वे रोटी बिल्कुल सुघर और पतली पतली थीं । उसे कुतूहल हुआ है कि उन एेतिहातसे रक्खी हुई रोटियोंको बनाने और रखनेवाला क्या यही आदमी है ? तब तो —बड़ा विचित्र आदमी है ! इसलिए बैठी है कि इस बातको पानेकी भी कोई युक्ति निकले ।

तब बातें होने लगीं—

.. आप पढती हैं ? सैकिंड इयरमे ? ठीक । मैं कहाँ कहाँ रहता हूँ ?—इसका क्या ठिकाना है ! ठिकाना अब तक कोई नहीं बना है ।.. बनाना चाहिए ? सो क्यों ?...सब ठीक ही है । किस्मत बड़ी चीज है । उसके खिलाफ लड़ना व्यर्थ है . हाँ, मैं बहुत-से काम जानता हूँ । रोटी भी महीनों बनाई है ।

आदि-आदि परस्पर परिचयकी बातें उनमें होती जाने लगीं । एक-पर एक बात ऐसे सहज भावसे उनमें आकर चली जाने लगी, मानों परस्पर सशक

रहनेकी आवश्यकता कर्मी इनके बीच संभव ही न होनी चाहिए थी। इतनेमे आ पहुँचा श्रीकान्त। उसकी मुद्रा विमल, किन्तु गम्भीर थी। यहाँ हरिप्रसन्नके समक्ष सत्याको देखकर उसका गाम्भीर्य सहसा लोप हो गया। उसने कहा, "वैलडन, हरी। कहो इसका पढ़ना देखा?"

श्रीकान्तके आते ही सहसा सत्या कुर्सीसे उछल-सी पडी, और उठकर चल-पड़नेको हो गई। श्रीकान्तने उसके कन्धेपर हाथ रखके कहा, "ऐसे ही पढ़ने आती रहीं तो तुम्हारा फर्स्ट क्लास कौन रोक सकता है? कहाँ जाती हो, बैठो।"

सत्या बोली भी नहीं, बैठी भी नहीं, चली ही गई।

सत्याके चले जानेके बाद श्रीकान्त और हरिप्रसन्न एक-दूसरेके प्रति मूक भावसे देखते रह गये। मानों दोनोके बीच प्रस्तुत सामान्य विषयकी भाँति जो सत्या थी वह नहीं है, तब दोनों नहीं जानते कि क्या हो?

सो, दोनों चुप ही रहे। यह त्रासदायक होने लगा। थोडी देरमे श्रीकान्तने कहा, "मैं अभी आता हूँ।" और यह कहकर चला गया।

उसने इस बीच क्या किया है? यही किया है कि कुछ भी नहीं किया। सब सोच-विचार तोड़कर वह निरा छुटा हुआ, मुक्त, बस अपने ही आपमें कुछ देर रह लिया है। गाडीमें गया और शहरके बाहरके पार्कमें पहुँचकर वहाँ एकान्तमें दूबके बिछौनेपर स्वय बिछ गया। ऐसे बिछ गया, जैसे ओस बिछ जाती है। गाडीवालेको कह दिया, वह जाय। आधे घण्टे-तक, आसमानमें भागते हुए बादलोंके टुकडोंके ऊपर स्थिर सलोने चाँदको देखता हुआ, चित्त, उस घासपर वह भीगी ओसकी नाईं बिछा ही पडा रह गया। उसने अपनेको बिल्कुल रोका नहीं। चित्त जिधर बहा बहने दिया, मन जिस खेलसे खेला, खेलने दिया, बुद्धि जहाँ उलझी, उलझने दी। वह तो स्वयं गति-विह्वल बादलोंके ऊपर अवस्थित सुस्थिर चाँदकी चाँदनीमें नहाता हुआ, जाल-सा बुनती हुई अपनी ही उन भ्रम-शील लयमान इच्छा-आकाक्षाओंके नीचे स्वय स्वस्थ, मुकुलित, उस चाँदकी नाईं ही द्युतिमान, शीतल, आनन्द-स्वप्नके खडकी भाँति पडा रहा। यो उन्मुक्त प्राणोंकी चाँदनीमे घंटे-भर नहाता रहकर उसने अपनेको समेटा। अब तक मानों वह अपनेको सबके प्रति विकीर्ण करता रहा था। तब वह उठा और सीधा घर चलता चला आया।

यही उसने किया है। अपनेको सोच-विचारसे तो रिताया ही है। हाँ, इस पद्धतिसे स्वयमेव, अनायास, उसने अपनेको विमल सदाशयतासे भरा पाया है।

वह सुनीताके पास पहुँचा। सुनीताकी रसोई लगभग तैयार है। देखते ही

सुनीताने कहा, " कहाँ गये थे ? तुम लोग खानेके लिए आओ न ! "

श्रीकान्तने कहा, " सत्या कहाँ है ? "

" मालूम नहीं, वहाँ पढ़ रही होगी । "

" वहाँसे तो आ गई । "

" होगी कहीं । उन्हें कहो न, और तुम दोनों जने खानेके लिए आओ । "

श्रीकान्तने कहा, " मैंने तुमसे रुपयेकी बात कही थी न, सो दे ही क्यों न डालें ? हरीको उसकी फिक्र मालूम होती है । "

" हाँ, दे दो । लेकिन मेरे पास तो नक़द नहीं हैं । चैक कहें तो दे दो । "

" क्या यह मालूम करना जरूरी है कि इन रुपयोंका क्या होगा ? "

" क्या जरूरी है ? हमें क्यों इसका आग्रह होना चाहिए ? सौदा तो हम कर नहीं रहे हैं कि बदलेकी चीजकी तरह उसके उपयोगको अच्छी तरह परख लें । लेकिन आप लोग जल्दी खाना खाने आ जाओ । और देखो, बात बढ़ाना मत।"

श्रीकान्त लौटकर गया, तब देखता है कि एक उन्नीस-बीस वर्षका युवक फौजी जैसी पोशाकमें हरिप्रसन्नके पास बैठा है । वह चुपचाप हरिप्रसन्नके पास गया, कन्धेपर छूकर इशारे इशारेमें बोला, "जरा सुनोगे ?" और तनिक अलग ले जाकर कहा, " बेअरर चैक दूँ तो कुछ हर्ज तो नहीं है ? नकद तो सौ रुपया अभी नहीं हैं । "

हरिप्रसन्न स्तब्ध बना सा श्रीकान्तको देखता रहा । उसने फिर सुना, " कहो, तो चैक अभी दे देता हूँ । "

तब हठात् निर्भय स्वरमे हरिप्रसन्नने कहा, " दे दो । "

" तो आओ । "

और अपने दफ्तरमें ले जाकर श्रीकान्तने सौ रुपयेका चैक काटकर उसे दे दिया ।

हरिप्रसन्न चैकको हाथमे लिये कुछ देर खडा रहा, फिर चलनेको होकर बोला, " आओ चलें । "

श्रीकान्तने उसीपर बैठे-बैठे कहा, " मै यहीं हूँ, तुम इतने निपटकर खानेके लिए तैयार हो जाओ । तुम्हारी भाभीने कहा है कि खानेके लिए हम दोनोंको वहाँ जल्दी पहुँचना चाहिए । "

हरिप्रसन्नने कहा, " सुनो तो ! "

श्रीकान्तको हरिप्रसन्न साथ लेकर कमरेमें गया और उस युवकसे बोला, " यह मेरे मित्र श्रीकान्त हैं । " इतना कहकर वह चैक श्रीकान्तके सामने-सामने उस

युवकको दे दिया। फिर कहा, "इन्हें प्रणाम करो।"

युवकने श्रीकान्तको प्रणाम किया। श्रीकान्त चुप रहा।

हरिप्रसन्नने अनुल्लंघनीय आदेशके स्वरमे युवकसे कहा, "जाओ, और जहाँ-तक बने यहाँ न आओ।"

युवक चल दिया। बाहर सहनसे पार हो रहा था कि छत परसे सत्याने पुकारा "चन्द्रसेन!"

चन्द्रसेनने अनायास मुड़कर देखा, और फिर वह सकपकाया-सा भागता हुआ ज़ीनेसे उतर गया।

३०

सत्याके मुँहसे उस युवकका नाम सुनकर हरिप्रसन्न चकित होकर रह गया। श्रीकान्त भी विस्मित हुआ। पर दोनों कुछ बोले नहीं। तब श्रीकान्त धीमे धीमे चलकर उस कमरेसे बाहर आया और छतपर जाकर उसने सत्यासे पूछा, "सत्या, यहाँ क्या कर रही हो?"

"कुछ नहीं, घूम रही हूँ, जीजाजी।"

"यह जो लड़का अभी गया, इसको जानती हो?"

"जानती हूँ। हमारे कॉलेजमे पढ़ता है।"

"और क्या जानती हो?"

"और तो ज्यादा नहीं जानती।"

सत्या किसीको देखकर नाम लेकर एकाएक पुकार पड़ी है, तब क्या यह मानकर ही रह जाना होगा कि वह उसे नाम-मात्रसे ही जानती है?

किन्तु इससे आगे चन्द्रसेनको वह क्या जानती है, यह मालूम भी किस प्रकार किया जावे?

श्रीकान्तने कहा, "तुम्हारी ही क्लासमें पढता है?"

"हाँ, हमारी ही क्लासमें पढ़ता है।"

श्रीकान्तने एकाएक प्रेमसे कहा, "अच्छा, जाओ। खाना खाओ। आज तुमने हरिप्रसन्नसे पढ़ा?"

"नहीं पढ़ा।"

"पढ़ोगी न?"

"मैंने इन्कार कब किया है जीजाजी?"

" अच्छा, जाओ, अपनी जीजीसे कहो, हम लोग खाना खाने आ रहे हैं। "

हरिप्रसन्न उसके बाद अपनेमें बन्द-ही सा पड़ गया था। श्रीकान्त जब छतपरसे उतरकर उसके पास गया, वह मेज़ आगे रखकर उसपर कोहनी टिकाये और मुँहको हथेलीमें रखे बैठा था। श्रीकान्तने खाना खानेके लिए कहा, तब वह चुपचाप उठ खड़ा हुआ। हाथ धोनेके लिए कहा, हाथ धो लिये। मानो क्रियाका उद्देश्य उसके भीतर सुन्न हो गया है, मात्र कर-भर रहा है, चित्तके प्रेरणा-तंतु जैसे गुमसुम हुए बैठे हैं।

खाना उसने खा लिया। जब चाहा गया, तब पान भी उसने खा लिया। फिर छुट्टी मिलते ही अपने स्टडी-रूममें वह आ गया और वहाँ आकर पन्द्रह बीस मिनट चुपके बैठे रहनेके बाद फिर अपने चित्रमें लग गया।

श्रीकान्त दफ्तरमें चला गया था। दस बजेके लगभग वहाँसे आया। बोला, " देखो हरि, एक दिनकी बात तो और होती है। लेकिन रोज-रोज यह हमसे न सहा जायगा, कि तुम सोनेके वक्त न सोओ। चलो, उठो। इसे छोड़ो, बिस्तर-पर चलो ऊपर। "

हरिप्रसन्नने कहा, " ऊपर ? क्यों, यहीं सो जाऊँगा। "

" चलो चलो, इसे उठाकर रक्खो। "

हरिप्रसन्नने कहा, " श्रीकान्त ! तुम मेरी गिनती अपने कामोंमें क्यों करो ? जहाँ हूँ, पड़ रह सकता हूँ। इस लिए तो मैं नहीं आया कि यहाँ शुमार किया जाऊँ। "

श्रीकान्तने कहा, " तो यहाँ ही सोओगे ? चलो, यही सही। तो यहीं बिस्तर लिये आता हूँ। "

" नहीं नहीं, भाई ! यह फ़र्श तो है ही, कुर्सी सरकाकर एक तरफ़ रखो कि बिछा-बिछाया बिस्तर हो गया। इसमें इतने सोचकी क्या बात है ? "

" देखो हरी, दूसरेके घर आकर तुम्हें उसके मुताबिक चलना सीखना चाहिए।"

तनिक अविश्वस्त भावसे हठात् हँसते हुए हरिप्रसन्नने कहा, " तुम्हें यकीन है, घर दूसरेका है, श्रीकान्त, मेरा नहीं है ? या चाहते हो कि यह मैं मान लूँ। "

' तुम्हारी मर्जी ! ' कहता हुआ श्रीकान्त वहाँसे चला गया। उसके चले जाने पर हरिप्रसन्न वहीं अपने चित्रसे लग रहा। इस चित्रमें लगकर रात उसे रात नहीं रहती, न दिन दिन। समयकी ही चेतना नहीं रहती। उसके भीतर जो अभाव है, एक अनिर्दिष्ट, अलक्ष रिक्त, एक दर्द, इस चित्रमें उसे ही रूप देनेकी चेष्टामें

मानों वह बाँध लेता है, उसे वायु-गुल्मकी भाँति उभरने नहीं देता। जैसे इस तरह वह अभाव सचमुच कुछ कुछ भरता भी है। जिसकी वेदना जाने कितने कालसे पकती पकती अब कहीं आँसू बनकर ढुलक जानेका अवसर पा सकी है, उस मनको घडी-पलकी सुध बुध दिलाकर कैसे उस समाधि-सुखसे खींचकर होशमें ला पटका जाय? इसीसे जब होता है वह भागते-बीतते समयके स्तरसे अपनेको तोडकर, सब बिसार, उस चित्रमें डूब रहता है। वह वहीं, चित्रमें, था कि तभी पासहीसे सुन पडा—'दूध लीजिए'।

उसने देखा—दूधका गिलास लिये भाभी खडी हैं।

"लीजिए, दूध लीजिए।"

"दूध!—"

अनायास उसका हाथ आगे बढ़ गया, और सिवाय इसके वह कुछ न कर सका कि भाभीके हाथोंमेंसे लेकर दूधका गिलास स्वय थाम ले।

"—यह तो बडा गरम है!"

भाभीने कहा, "ऐसा गरम तो नहीं है। मै तो इतनी देरसे हाथमें लिये थी।"

हरीने कहा, 'बैठिए'। और एक कुर्सी छूकर आगे सरकाई-सी।

"बैठूँ? अच्छा दो मिनट बैठे लेती हूँ। आप कबतक जागेंगे? तस्वीर खत्म करनेकी क्या आपने सौगन्ध खाई है?"

"नहीं तो, लेकिन—"

"बिस्तरा आपका ऊपर बिछ रहा है, वहाँ नहीं सोएँगे?"

"यहीं बहुत जगह है।"

"अच्छी बात है। देखते हैं, हम आपके लिए कुछ कर नहीं सकते। मैंने तस्वीर देखनेको कहा था। अब दिखाइएगा?"

"अभी तो लकीरें हैं। क्या देखिएगा? ..यह देखिए।"

हरिप्रसन्नने बोर्डको ऊँचा उठा दिया और सुनीताने वह कागज देखा, जिसपर अभी स्पष्ट कुछ न उभर सका था।

"मेरी तो कुछ भी समझमें नहीं आता।"

हरिप्रसन्नने निरर्थक रूपमे कहा, "जी हाँ।"

सुनीता कुर्सीसे उठी—"तो आप यहीं सोइएगा? मैं समझती हूँ, जब ऊपर बिछा दिया गया है तो चलनेमे कुछ हर्ज न था। हम—हम लोग अलग सो रही हैं—"

हरिप्रसन्न एकाएक इस प्रकार घनिष्ठ-सी लगनेवाली बातको भाभीके मुँहसे सहज बाहर आती देखकर लज्जासे लाल पड़ गया। वह कुछ भी न बोल सका।

"जी हाँ, हम लोग अलग सो रही हैं। आप न जायेंगे, तो वह अकेले रहेंगे। देख लीजिए। ऐसा गर्म नहीं है दूध, पी डालिए.. तो यहीं सोइएगा? मैं जाऊँ?"

"जी हा, मै यहीं सो रहूँगा।"

"अच्छी बात है। लेकिन देखिए, आप बहुत राततक मत जागिएगा।"

हरिप्रसन्न चुप रहा, सुनीताने बहुत धमिसे नमस्ते किया और चल दी।

हरी क्षण-भर देखता रहा, फिर बोला, "भाभीजी, जरा सुनेंगी। मुझे आप लोगोंने सौ रुपए किस भरोसेपर दे डाले, मैं पूछ सकता हूँ?"

"सौ रुपए? क्या-आ? किसने?"

"आपने।"

"मैंने?"

"जी हाँ, आपने।"

"सो कैसे?"

"मैं जानता हूँ।"

"जानते हैं तो मुझसे क्या पूछिएगा?"

और सुनीता आगे बढ़ी।

"ठहरो भाभी, मुझे कहने दो, मैं आप लोगोंका बड़ा कृतज्ञ हूँ।"

सुनीताने एकाएक रुककर कहा, "क्या मैं पूछ सकती हूँ, वह लड़का कौन था, जो आपके पास आया था?"

"मै नहीं जानता। लेकिन जान पड़ता है, सत्या उसे जानती है।"

"आप नहीं जानते?"

"ऐसी कोई बात नहीं जानता जो आपको बतला सकूँ।"

"जब उसमेका एक पैसा आपके पास नहीं है, सब उस लड़केके हाथों छिना दिया है, तब आपके लिए कृतज्ञ होनेकी क्या बात है?"

"कृतज्ञ मुझे नहीं होना चाहिए, यह आप कहती हैं?"

"जी हाँ। कृतज्ञता बन्धन है, वह झूठ भी है।"

हरिप्रसन्न अपने सिरपर हाथ फेरता हुआ बैठा रह गया और सुनीताने चलते-चलते कहा, "देखिए, आप मुझे भाभी भाभी बहुत कहते हैं। ऐसा है, तब

एक तो यह बात सुनिए कि हमारे बीचमें कृतज्ञता कहींसे भी न आसकेगी, दूसरे यह कि कभी भाभीकी भी कोई बात मानने लायक हो सकती है। आप यहीं सोइएगा ?"

हरिप्रसन्नने कहा, "भाभी, मुझे माफ़ करो। बात न मान सकनेका दुःख क्या मुझे कम है ? लेकिन तुम लोग मुझे गिनतीमें क्यों लाओ ? मैं उसके लिए नहीं हूँ। और जब तक यह तस्वीर पूरी न होगी, ठीक नींद भी कैसे आएगी ?"

"आप जानिए।" कहती हुई सुनीता चली गई।

हरिप्रसन्न सुनीताके चले जानेपर एकाएक काममें नहीं लग सका। काफ़ी देर तक उठकर वह कमरेमें टहलता रहा। अनन्तर फिर आकर तस्वीरमें जुट गया। मालूम नहीं, वह इस भाँति कबतक काम किये जाता। लेकिन जब रात्रिके बारह बजेके लगभग बिजलीकी बत्ती ऊपरसे एकाएक बुझ गई, तब झल्लाकर उसे काम बन्द कर देना पड़ा। तब पहले तो उसने उठकर देखने-भालनेकी कोशिश की कि खराबी क्या है, और बत्ती ठीक हो सकती है या नहीं। लेकिन जब अँधेरेके सिवाय कोई और खराबी हाथमें न पड़ी, तब वहीं सामानके बीचमें किसी भाँति अपने लिए जगह बनाकर वह पड़ गया। सोचते विचारते कुछ देर बाद जब उसकी आँखोंमें नींद आ-भरने लगी, तब देखता क्या है कि रोशनी अनायास झकसे फूट पड़ी है। किन्तु तब वह निंदाया-सा हो रहा था, इससे उठा नहीं, और देखा कि तीन चार मिनट बाद आप ही फिर बत्ती बुझ गई है और घुप अँधेरा हो गया है।

यह सब शरारत सत्याकी थी। जब सब सो गये, तब उसने देखा कि अब भी स्टडी–रूमकी बत्ती जल ही रही है। यह भी देख लिया कि अन्दर हरिप्रसन्न काम कर रहे हैं। बहुत देर तकको वह मनमें धीरज रखे रही। लेकिन जब निश्चय हो गया कि अपने आप इन महाशयको होश आनेवाला नहीं है, तब यह निश्चय करके कि उन्हें नहीं तो मुझे तो अपनी नींद बरबाद नहीं करनी है, चुपचाप दबे-पाँव जाकर उसने बिजलीका मेन-स्विच बन्द कर दिया। वह मेन स्टडी-रूमके बाहर ही एक जगह लगा था। अँधेरा होनेपर साँस रोककर वह मालूम करती रही कि हरिप्रसन्न झुँझला रहे हैं। तब वह बड़ी खुश हुई। आखिरमें देखा कि गड़बड़-खड़बड़ सब बन्द हो गई है और निश्चय किया कि हजरत सिर टिकाकर लेट गये मालूम होते हैं, तब वह अँधेरेमें टटोलती हुई अपने सोनेकी जगह पहुँच गई। किन्तु वहाँ खाटपर पड़े पड़े उसे

ख्याल आने लगा कि यह काम कहीं उसने बेजा तो नहीं किया ? बहुत देर तक इसी उधेड़-बुनमें वह पड़ी रही। फिर उसे अफसोस होने लगा कि ऐसा उसने क्यों किया ? वह काममें लगे थे, उन्हें बुरा मालूम हुआ होगा। यों ही सोचते-सोचते वह एकाएक उठी और फिर नीचे आकर उसने मेन खोल दिया। प्रकाश पहलेकी ही भाँति खिल पड़ा। लेकिन सत्याने देखा कि प्रकाशके कारण कोई व्यक्ति उठकर काममें नहीं लग गया है। तब उसे सन्तोष हुआ कि वह तो सो गये। और फिर मेनको बन्द करके वह दबे-पाँव अपने स्थानपर जाकर सो रही। यह सत्याके मनका क्या हाल था ?

३१

हरिप्रसन्न इस घरमें अपनेको सिकोडे रखना चाहता है, फैलाना नहीं चाहता। मानों जो उसको यहाँ चारों ओरसे आत्मीयताका निमन्त्रण प्राप्त हो रहा है, उसमें आशङ्का हो, सङ्कट हो। उसकी प्रकृति अवश्य ऐसी नहीं है। अभी तक तो जहाँ गया है, वहाँ सब ओर अपनेको फैला चलनेमें वह सहज भावसे प्रवृत्त हो जाता रहा है। सकोच उसमें नहीं दीखा है, न शका उसमें दीखी है। किन्तु यहाँ आकर वह ऐसा हो पड़ा है कि जैसे लज्जामें ही उसे सहारा है, सकोचमें ही त्राण है, शकित रहनेमें ही कुशल है।

वह चित्र ले बैठा है, मानों अब इस चित्रको ही पकड़े रहेगा, इधर उधर चित्तको भटकने नहीं देगा। उसका प्रोग्राम क्या है—मालूम नहीं। वह कितने दिनों तक यहाँ है—मालूम नहीं। क्या वस्तु, क्या अपेक्षा, नियत करती है कि वह कितने दिनों तक यहाँ रहेगा—मालूम नहीं।

श्रीकान्त खुला रहता है। उसने चाहा है कि हरिप्रसन्न भी बिल्कुल खुलकर यहाँ रहे। किन्तु वह किस भाँति अपनेको खोलकर रक्खे, यह हरिप्रसन्न स्वय नहीं जानता। मानों कि कुछ भीषण उसके अन्दर बन्द है, कुछ कुत्सित, कुछ कुटिल—क्या खोलकर उन्हीं रेंगते हुए सर्पोंको अपने बाहर कर देना होगा, कि बाहर वे अपना विष फैलाएँ! छिः-छिः! उन जन्तुओंके तो भीतर ही बन्द रहनेमें कुशल है। श्रीकान्त अपने मित्रकी सुविधाकी चिन्ता रखता है, वह सुनीता, जो श्रीकान्तकी पत्नी है, उसका बराबर ख्याल रखती है, यह लड़की सत्या भी तो धीरे धीरे इसके निकट आकर मानों उसकी प्रसन्नतामें योग-दान करती है, उस हरिप्रसन्नको यह सब शूल-सा चुभता है। अब तक ज़िन्दगीमें मानों आग्रहपूर्वक

वह अपने लिए जगत्से सब कुछ लेता, पाता और भोगता रहा है। जो लिया, उसे उसने कभी जगका ऋण न माना; अपना स्वत्व ही माना है। लेकर कभी वह झुका नहीं है। उसका उपयोग करके वह बलिष्ठ ही हुआ है। लेकिन इस घरके लोगोंपर उसका स्वत्व-भाव तो मानों आदि दिनसे ही स्वीकृत है, उसके प्रति इस घरमें तनिक भी तो रुकाव, अवरोध नहीं पाता है। तब किसके विरोधमे उसकी आग्रही-वृत्ति टिके ? इसलिए यहाँ आकर उसके स्वभावकी तेजस्विता मानों पुचकारी हुई-सी बैठती जाती है। उसका आग्रह मंद पडता जाता है। उसकी इच्छा-शक्तिके व्ययके लिए मानों यह चित्र उसे मिल गया है—उसी राह वह व्यय होती रहकर सचेत रहे। अन्यथा इस परिवारके बीचमें वह प्रबल इच्छा-शक्ति मानो आराम पाकर ऊँघ जाना ही चाहती है।

किन्तु नहीं, कर्त्तव्य कठोर है, राह दीर्घ है। उसका अन्त कहाँ है ? बहुत कुछ है, जो होना माँगता है, जो होना होगा। जो भवितव्य है, उसको भी अपने ही हाथोंसे खींचकर लाना होगा। नहीं तो वह भी अनायास आ जानेवाला नहीं है। तब कैसा प्रमाद ? कैसी जड़ता ? कैसा मोह ? चले चलो, चले चलो। न मुडना कहीं है, न रुकना कहीं है। अरे, चलते ही चलना है।

किन्तु भीतरसे क्या कुछ काला-काला फन-सा घुमड़ता उठ रहा है ? उसीको खींचकर बाहर निकाल देना होगा। उसीको चीरकर अपनेसे अलग करके इस तस्वीरमे कील देना होगा। यह हो जायगा तब कहेगा,—'ओ तू !—वहीं रह ! और ओ रे, नग्न प्रार्थी मनुष्य ! उस अँधेरे स्तूपको छोड़। वहाँ अँधेरा है, वहाँ उत्तर नहीं है। मुड आ कठोर पृथ्वीकी ओर, उसे उर्वरा कर, उसे हरियाली कर, शस्यदा कर। उस अँधेरे गह्वरमें थाह नहीं है, तल नहीं है। अरे अभागे, मुड आ। यहाँ कर्मके बीच तेरी प्रतीक्षा है। वहाँ क्यों भक्ष्य बननेको खड़ा है ? यहाँ आ और जयी बन, उर्जस्वी बन।

उसी 'ओ तू !' के साथ वह पेंसिल और रग और ब्रश लेकर युद्ध कर रहा है। अगले दिनकी दोपहर आ गई है। घरमें श्रीकान्त नहीं है, वह कचहरी गया है। सत्या भी नहीं है, कॉलिज गई है। सुनीता काम-धन्धेमें है, वही घरमें है। और घरमे हरिप्रसन्न भी है, जो घरमे उतना नहीं है जितना तस्वीरमें है। उसके जीमें वही पीडा उमड़ रही है—'ओ तू !' वह मन भटक-भटककर पाना चाहता है कि वह 'तू' क्या है ? लेकिन उस मनको रोक-रोककर रक्खा जाता है कि वह धृष्ट चुप रहे, मचले नहीं, और मान रक्खे कि चित्रसे बाहर रहकर वह 'तू'

कहीं नहीं है। सदाके लिए उसे उस चित्रमें ही जड दिया जा रहा है।

काम निबटाकर और कुछ आराम करके तीसरा पहर लगते लगते हाथमें जलपानकी तश्तरी लेकर सुनीता वहाँ आई—"आप अपने ऊपर रहम नहीं करना चाहते? लीजिए, यह लीजिए।"—कहकर तश्तरी सामने सरकाकर रख दी।

"बैठो।"

हरिप्रसन्नने कह तो दिया, 'बैठो', पर न तो संकेतसे बैठनेकी जगह दिखाई, न कोई कुर्सी सरकाकर बढ़ा देनेमें वह आग्रहशील हुआ। बस कह भर दिया, 'बैठो'।

सुनीता उसके पास ही नीचे फर्शपर धोती ठीक करती हुई बैठ गई। दाहिना हाथ टेककर पास रखी कुर्सीका सहारा बना लिया।

"लीजिए, यह लीजिए। मालूम है, क्या बज गया?"

हरिप्रसन्नने धीमे-से हाथका ब्रश दूर कर दिया, पानी रँग-आदिकी प्यालियाँ भी अलग हटा दीं, चित्रका बोर्ड उठाकर दीवारके सहारे टिका दिया, फिर कहा, "कहो?"

सुनीता बस, तनिक ही तनिक मुस्कराई। कहा, "कहूँ क्या? वक्त देखिए और यह तश्तरी सँभालिए। काम बहुत हुआ, अब जरा हाथ-मुँह धोकर तरो-ताजा भी हूजिएगा कि नहीं?"

"हाथ मुँह धोलूँ? अच्छा।"

तुरन्त उठकर हरिप्रसन्न चुपचाप बाहर चला गया। सुनीताने तस्वीर सरकाकर हाथमें ले ली और देखने लगी। देखा कि इस तस्वीरमें अर्थ उतना नहीं, जितना कि भाव। उस तस्वीरमें कहीं थाह नहीं दीखती है। उसने अक्सर शब्द पढे हैं—'असीमको ससीममें बाँध दिया गया है।' मानों यह बात तस्वीरको देखकर कुछ कुछ उसकी समझमें आ रही है। चित्रका अर्थ तो सचमुच उसे कुछ समझ नहीं आता, किन्तु निरर्थक कहकर टाल दे, यह भी उसके वशसे बाहरकी बात जान पड़ती है। मन वहाँ जाकर खो जाना-सा चाहता है। कुछ है, जो परिचित है, अनुभूत है, एकदम घनिष्ठ है। फिर भी इस चित्रमें वह क्या है, कहाँ है, खोजे ही मिले तो मिले, अनायास नहीं मिलता।

हरिप्रसन्नने आकर कहा, "क्या देखती हो, भाभी, उसे रख दो, रहने दो।"

सुनीताने ऊपर देखा, फिर मुस्कराई। कहा, "गुसलखानेका यह तौलिया भला कन्धेपर उठाकर क्यों लेते आये हैं?"

हरिप्रसन्न बिना एक शब्द कहे, उन्हीं पाँवों लौट चला। सुनीताने जल्दी-से कहा, "अजी जाने दीजिए न, रहने दीजिए।"

लेकिन हरिप्रसन्न चलता ही गया और तौलिएको यथा-स्थान रखकर ही आया। आते ही बैठते हुए कहा, "इस तस्वीरमें आपके लिए कुछ नहीं है। इसे रख दीजिए। और यह अभी अधूरी भी है।"

"ओह, तस्वीर आपकी है! ठीक, तो यह लीजिए।" कहकर तुरन्त सुनीताने वह तस्वीर दोनों हाथोंसे सावधानतापूर्वक उसके पहिले ही स्थानपर रख दी।

हरिप्रसन्नने जल्दीसे कहा, "मेरा यह मशा नहीं था, लेकिन—

"जी नहीं, बिना पूछे मै अब फिर नहीं उठाऊँगी।"

हरिप्रसन्न बोला, "भाभी!"

भाभीने कहा, "खैर, यह लीजिए।"

"अब यह खाना होगा, यही कहती हो? अच्छी बात है, लो।" कहकर हरिप्रसन्न उस तश्तरीको सरकाकर चुपचाप खाने लगा।

सुनीताने कहा, "देखिए, आप बिगडें नहीं, तो मैं काफी बातें आपसे करना चाहती हूँ।"

"काफी बातें करना चाहती हो, करो। फिर मुझे भी तुम्हें कुछ कहनेको होगा।"

"मैं पूछती हूँ, आप ब्याह नहीं करेंगे?"

"मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि ब्याह न करनेकी मेरी प्रतिज्ञा नहीं है। और कुछ ऐसा भी सोचता हूँ कि मेरे साथ ब्याह वह करे, जो मुझे छोड़कर किसी दिन भी चल देनेकी हिम्मत रक्खे। क्योंकि कौन जानता है कि मैं उसे किसी दिन छोड़कर नहीं चल पड सकता।"

सुनीताने पूछा—और?

हरिप्रसन्नने विस्मयसे कहा, "और क्या?"

सुनीता—और यह नहीं कि उसके तीन आँखें हों, तीन हाथ हों, और स्वर्गकी अप्सरासे कम न हो?

हरि—भाभी!

सुनीता—क्यों? मैंने झूठ बात कही है? तुम्हारी बातसे कुछ कम अद्वितीय बात नहीं कही।

हरी—तो भाभी, यह समझो, मैं ब्याह नहीं करना चाहता।

सुनीता—क्या करना चाहते हो?

हरी—रहना चाहता हूँ ।

सुनीता—समझी कि मरना नहीं चाहते, रहना चाहते हो । पर कैसे रहना चाहते हो ? आदमीकी तरहसे, कि देवताकी तरहसे ?

हरी—अपनी तरहसे ।

सुनीता—वह तरह कौन-सी है, जानूँ तो ?

हरिप्रसन्नने भरपूर सुनीताको देखते हुए कहा, " वह तरह जरूर तुम्हारी जैसी तरह नहीं है । "

उस दृष्टिमें कुछ था जिसने सुनीताके व्यंग-भावको हठात् कुंठित किया ।

हरिप्रसन्नने भाभीपर एकदम छागई हुई कुंठाका अनुभव किया । पाया कि नारीका प्रागल्भ्य बैठ रहा है । उसके भीतरका पुरुष प्रोज्ज्वल हुआ । उसने कहा, " भाभी, खेल न होगा । विवाहकी बातें विवाहितके लिए तमाशा हो, मेरे लिए नहीं हैं । भाभी, जब तुम्हारे सामने हूँ, तब और भी नहीं हैं । तुम जानती हो कि तुमने क्या पूँछा है ?—वह पूछा है, जिसका जवाब इस मुँहसे फोड़कर कोई नहीं ले सका है, कोई नहीं पा सका है । क्या मैं तुम्हें भी कह दूँ—' चलो, हटो, जाओ । ' नहीं नहीं कह सकता । नहीं इसलिए कह सकता कि मेरा कोई नहीं बना है । न कोई बनने आया है, न मैंने बनाया है । तुम, और तुम्हीं । तुम पहली बार भाभी बनी हो, और मैं नहीं जानता, भाभी क्या है । मुझे कहने दो, मेरे लिए सब तुम हो । घबराओ नहीं, हाँ हाँ, सब तुम हो । मुझे कहने दो, वह सब मेरे लिए क्या है...? "

सुनीताने झटपट-सी मचाकर और नहीं तो घड़ीकी ओर देखकर कहा, "ओहो, ढाई बज गया ! मुझे रोटी चढ़ानी है । "

" रोटी चढ़ाओगी, लेकिन अभी ठहरो । मैं बताऊँ, वह सब मेरे लिए क्या है ? उस पत्नीसे क्या होगा जो खाली पतिव्रता हो । मुझे चाहिए एक प्रतिमा भी, जो पतिव्रता चाहे न भी हो, पर अटूट हो, जो विपत्तियोंमें ऐसे चमके, जैसे घोर घनमें बिजली । मुझे माता भी चाहिए, मुझे दासी भी चाहिए । लेकिन सबसे अधिक चाहिए मुझे वह जो स्फूर्तिकी मन्त्र हो, जिसमें प्रेम इतना हो कि हिंसासे वह डरे नहीं । जो लाल लहू बहता देखे, बहने दे, पर शान्तिका स्वप्न जिसका अखण्ड रहे । जो पताका उठाए और युवक जिसके पीछे लहूकी नदियाँ पार करते हुए चले जाएँ ।.. "

सुनीताने कम्पित स्वरमें कहा, " ओह—"

" ठहरो, भाभी, मैं इसलिए विवाह नहीं करता कि मैं पत्नी नही चाहता। मैं सब कुछ चाहता हूँ, सब कुछ। मुझे चाहिए महोत्सर्ग, जिसमेंसे प्रकाशकी किरणें फूटें। महा-प्राणताका आदर्श जिसमेंसे विकीर्ण हो।—भाभी—"

हरिप्रसन्नने हाथ बढ़ाकर सुनीताका हाथ थाम लिया।

"भाभी, मैं वह दृश्य देख रहा हूँ। मैं वह चाहता हूँ। युवक बढे चलें और जहाँ विजय है, वहाँ पहुँचें। किसके झण्डेके नीचे? किसके स्मितसे उत्साहित होकर? किसके भ्रू-निक्षेपपर मतवाले बने?—किसके कटाक्षपर मचलकर? उसके, जिसका मैं स्वप्न देखता हूँ।"

सुनीताका हाथ हरिप्रसन्नके हाथोंमें थमा ही रहा, सुनीताने उसे खींचा नहीं।

हरिप्रसन्न बोला, " भाभी, मैं नहीं जानता, भाभीको क्या होना होता है, और क्या नहीं होना होता...

सुनीताने अब अपना हाथ खींचकर कहा, " ओः, तीन बज गये! देखिए मुझे देर हो जायगी।"

हरिने कहा, " चली जाना। लेकिन मुझे अपनी बात अभी कहनी है।"

सुनीताने अपनी जगहसे उठकर खड़े होते हुए हठात् वाणी बदलकर कहा, " मैं कहने आई थी कि सत्या शामको आएगी।"

" मैं नहीं पढ़ा सकूँगा।"

" यह तो सत्याको ही आप कहिएगा, मैं नहीं जानती।"

" उस लड़कीके लायक, भाभी, मेरे पास क्या है? क्यों मुझे लजाती हो? तुम सब जानती हो।"

भाभीने मानों कुछ टालते हुए कहा, " अच्छा, आप क्या खाइएगा? वही बनाऊँ।"

हरिप्रसन्नने झल्लाकर कहा, " भाभी!"

" तो नहीं बताइएगा।" यह कहते हुए भाभी चली गई।

हरिप्रसन्न? —लेकिन वह तो उठकर उस कमरेमें ही टहलता रह गया।

३२

रातको खाना खानेके बाद स्वामी और पत्नीमें बातें होने लगीं। वैसी बातें सदा नहीं होतीं, कभी कभी ही होती हैं। इधर तो मुद्दतसे नहीं हुई।

श्रीकान्तने कहा, " कहो, हरिप्रसन्नको देखा? क्या पाया?"

देखा तो है, पर क्या पाया है—यह सुनीता ठीक तरह नहीं समझ पा रही है। जो पाया है, उसकी तरफ भीतर देखकर सहमना होता है।

" कहो, कुछ आशाका अवकाश है ? क्योंकि—"

" पता नहीं।"

" तुम समझती हो, उसका विवाह नहीं किया जा सकता।"

" हो, तो—हाँ, हो सकता है, किया नहीं जा सकता।"

श्रीकान्त—क्यों ?

सुनीता—विवाहमें विश्वास उन्हें प्राप्त नहीं है।

तब श्रीकान्तने बताया कि देखो सुनीता, मुझे एक केसको लेकर परसों दो तीन रोज़के लिए लाहौर जाना है। अब यह तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे। मुझे उसके बारेमें शङ्का बनी रहती है।

लाहौर जानेकी बात सुनकर सुनीता सन्न रह गई। उसने कहा, " क्या जाना रुक नहीं सकता ?"

श्रीकान्त—कैसी बात कहती हो! रुक कैसे सकता है ?

सुनीताने अनुनयपूर्वक कहा, " मैंने तुम्हें कभी रोका है ? पर इस बार कहती हूँ कि मत जाओ।"

श्रीकान्त अपनी पत्नीकी इस अनुनय-भरी काँपती वाणीको समझ नहीं सका। कहा, " अरे सुनी, तुमको यह क्या हो रहा है! तीन-चार दिनमें तो मैं लौट ही आता हूँ।"

सुनीता—उन्हें मुझको क्यों सौंपे जाते हो ? उनका मन तो मेरे बसका नहीं है। मैं तुमसे कहना नहीं चाहती थी। पर उनके लिए कहीं अलग बन्दोबस्त हो जाय तो कैसा रहे ?

श्रीकान्त—क्या सुनीता ?

सुनीता—उनको यहाँ सुख नहीं मिल रहा है।

श्रीकान्त—सुख ? क्या कभी उसे सुख मिलेगा ? क्या कभी मिला है ? और सुख मिलता किसको है ?

सुनीता—तुम तीन-चार रोजमें लौट आओगे न ? तब तुम्हीं उनसे कह दो कि इस बीच जायें नहीं। जायेंगे, तो मुझसे नहीं रोका जायगा। किस बलपर मैं उन्हें रोकूँगी ?

श्रीकान्त—अच्छी बात है, मैं कह दूँगा। लेकिन तुम मेरे जानेको लेकर क्यों

उदास हो रही हो ?

सुनीता—नहीं तो—

किन्तु, इस 'नहीं—तो—' ने ही कहा कि—'हाँ हाँ, वह कातर है। तुम्हीं सोचो, नहीं तो भला वह इस समय और क्या हो ?'

श्रीकान्त इस आग्रह-ग्रस्त अपितु विस्वस्त भावसे कहे जाते हुए 'नहीं तो—' को सुनकर चित्तमें और भी आर्द्र हो आया। 'नहीं तो—' का बाँध-बाँधकर जो 'हाँ तो—' की भरी आती हुई बाढ़को रोक रक्खा जा रहा है, वह बाढ़ क्या किसी भाँति भी छिप रही है ? देखो न, उस बाँधके मजबूत जोड़कर कहे हुए शब्द कैसे काँप रहे हैं ! उन जोड़ोंकी सधिमेंसे पुकार आ ही रही है—'अरे आओ, उसे सँभालो। वह है कातर। वह आर्त भी है...।' श्रीकान्त उठकर सुनीताके पास ही आ गया। उसके सिरको थपकते हुए बोला, "सुनीता ! रानी !"

सुनीता—तुम जाओगे ?

श्रीकान्त—(ढाढस देते हुए) सुनीता !

सुनीता इसपर एक साथ ही गम्भीर और विचलित-सी हो आई। उसने कहा, "तब मेरा विश्वास तो मुझे देते जाओ। वह मुझमेंसे खिसका जा रहा है। क्या विवाह लौकिक नीति ही है ? क्या वह धर्म भी नहीं है ? क्या वह आदमीके मनोभावपर ही निर्भर है ? क्या वह सुभीतेकी ही चीज है ? इन सबसे कहीं पवित्र वस्तु क्या वह नहीं है ? अरे, मुझे मेरा विश्वास दे दो। ईश्वरकी पूजा छोड़, उस ईश्वरको नाप-जोख करनेकी वृत्ति मुझमें क्यों होती है ? यह हीनता क्यो मुझपर छा रही है ?...तुम क्यों जाते हो ? मत जाओ। जाओ, तो मेरे भीतर विश्वास भर जाओ।"

श्रीकान्त—सुनीता ! सुनीता ! क्या है ?

स्वामीके वक्षसे लगकर सुनीताने कहा, "कुछ नहीं है, मेरे प्रिय ! राहु आया है, सो दूर होगा। श्रद्धाकी पूर्णिमा तो प्रकाशित ही रहेगी। श्रद्धा मेरी डसी न जायगी। मेरे प्रिय ! मुझे प्रेम करना न छोड़ो। मुझे बे-सुध रहने दो। सुध पाकर मैं फिर क्या रहूँगी ! मेरा तो सब आधार लुट जायगा। मुझे तो खोया रहने दो।

श्रीकान्तने सुनीताकी पीठ धीरे-धीरे थपकते हुए कहा, "मेरी सुनीता ! मेरी रानी ! मैं तो यह हूँ, मै तो तुम्हारा हूँ।"

सुनीता स्वामीसे अलग हो गई, पूछा, "तुम मेरे हो ? मेरे ही हो ? तो मुझे

कहो, 'कि तुम मेरी हो।'"

श्रीकान्त—सुनीता।

सुनीता—कहो, मैं तुम्हारी हूँ। कहो, मैं तुम्हारी ही हूँ।

श्रीकान्त—सुनीता!

सुनीता—कहो, कहो!

श्रीकान्त—मैं तुम्हारा हूँ, सुनीता!

सुनीता—'और मै तुम्हारी हूँ,'—कहो!

श्रीकान्त—और तुम मेरी हो!

सुनीताने मानों भर पाया। जो भीतर दुर्लक्ष्य रिक्त-सा हुआ था, वह इस पूरमें पुर गया। अब क्या हो? अब एक दूसरेके समक्ष परस्परकी पृथक् उपस्थिति मानो उन्हें असह्य ही होती जाने लगी। या तो वे दोनों गाढ़ आलिंगनमें बँधकर परस्पर पार्थक्यको मिटा ही डालें। नहीं तो परस्परके समक्षसे इसी समय लुप्त हो जाएँ, दूर हो जाएँ। ऐसे समय दूरी ही निकटताको सत्य बनाती है।

सुनीताने कहा, "कब जाओगे,—परसों?"

श्रीकान्त—अगर कल नहीं, तो अवश्य परसों।

सुनीता—दूध ले आऊँ?

श्रीकान्त—ले आओ, लेकिन—

सुनीता—ला रही हूँ।

दूधका गिलास लेकर जब लौटी तो श्रीकान्तने गिलास लेकर कहा, "और हरिप्रसन्नको दे दिया?"

सुनीता मानों कहीं ऊँचेसे टूट कर गिरी, बोली, "नहीं तो—"

श्रीकान्त—पहले उसे देकर आओ।

और श्रीकान्त अपने हाथका गिलास वापिस करने लगा।

सुनीताका मन कड़वा हो आया। बोली, "तो उन्हें कब नहीं देती?"

श्रीकान्त—(गिलास अपने पास रहने देकर) सुनीता! हरिप्रसन्नको यों भूला न करो।

सुनीताने बेहद खीझकर कहा, "तो, दिये तो आ रही हूँ।"

श्रीकान्तने इस समय तनिक सदय भावसे कहा, "सुनो सुनीता, ऐसा है तो मुझे सचमुच सोचना चाहिए कि हरिप्रसन्नका अलहदा बन्दोबस्त क्या ज्यादा ठीक नहीं रहेगा।"

सुनीता—(जाते-जाते) हाँ, वह ठीक रहेगा।

श्रीकान्त—(आविष्ट स्वरमें) सुनीता !

सुनीता चली गई।

३३

सुनीता दूधका गिलास लेकर हरिप्रसन्नके पास पहुँची। तब सत्या, जैसा कुछ पढ़ना-पढ़ाना हुआ वैसा करके, वहाँसे जा चुकी थी। हरिप्रसन्न अकेला था। उसने वह चित्र ही खींचकर अपने सामने ले लिया था। उस समय वह उसमें अटका ही हुआ था, उसे बना नहीं रहा था।

सुनीता सदाकी भाँति आज बोलती हुई नहीं आई। कुछ इसलिए भी बोलनेकी आवश्यकता न हुई कि उसके आते आते हरिप्रसन्नका ध्यान स्वयमेव उसकी ओर बँट गया था।

हरीने कहा, "दूध लाई हो भाभी ? लाओ। लेकिन तुम कैसे जानती हो कि कभी मुझे इस तरह दूध रातको मिला किया है ? यह तो भाभी, अन्धे गड्ढेमें कृपाका जल डालने जैसा है।"

गिलास थमाकर सुनीता, निरुत्तर, चली जाने लगी।

हरीने कहा, "सुनो। मेरा बिस्तरा आज ऊपर बिछा है ?"

सुनीता—मालूम नहीं।

हरी—तो नहीं बिछा है ?

"मालूम नहीं।"

हरी—नहीं मालूम ? खैर मै सोचता था कि तस्वीर छोड़ूँ या खुद उससे छूटूँ और आज श्रीकान्तके साथ गपशप करता हुआ सोऊँ।

सुनीता—अच्छा।

हरी—भाभी यह क्या है ? क्या बात है ?

सुनीता—बिस्तर वहाँ न हुआ तो अभी बिछाए देती हूँ। आप चलिए।

यह सुनीता नामकी भाभी हरिप्रसन्नकी बुद्धिसे एकदम बाहर हो पड रही है। उसने कहा, "भाभी, यह तुम्हें क्या हुआ है ? ठीक बोल नहीं रही हो। ..मेरा कसूर हुआ हो तो माफ़ कर दो।

सुनीता चुप।

"देखता हूँ, मुझे यहाँसे अब चलना भी है—"

कुछ ठहरकर फिर कहा, "—परसों शायद चल पड़ूँ—"

सुनीता—आपको यहाँ तकलीफ़ है ?

हरिप्रसन्न—तकलीफ ?—हाँ वह भी है ।

सुनीता—आपने कहा, परसों ?

हरिप्रसन्न—हाँ, देखता हूँ, परसों । कलतक किसी तरह तस्वीर पूरी नहीं की जा सकती । जरूर वह सौसे काफी ज्यादामें बिक जानी चाहिए ।

सुनीता—तब तस्वीर आप लेते जाइएगा । आप जान लीजिए कि हमारे यहाँसे सूदपर रुपया नहीं दिया जाता ।

" तस्वीर साथ ले जाऊँगा ! " कहकर हरिप्रसन्न कुछ देर चुप रहा । फिर बोला, "अपनेसे अलग करनेके लिए तस्वीर है, भाभी, साथ बाँधनेके लिए नहीं । साथ रखना था तो वह मनमें ही न थी, मनसे कुछ बाहर खींच रखना सुखकर कर्म तो नहीं है भाभी । और भाभीजी, मैंने कब कहा है कि आप लोग उसे बेच ही दीजिएगा । उसके तो खैर, सौ या ज्यादे रुपए मिल जायँगे । लेकिन उसके बाद मुझे और रुपए चाहने लग गए तो क्या आप लोगोंसे माँगनेसे मैं बाज आजाऊँगा, यह आप समझती हैं ? फिर भी यह जान रखनेमें क्या बुराई है कि दाम-मोलके लिहाज़से भी यह तस्वीर बेकाम नहीं है ।' इतनेसे शायद आप उसे फेंक तो नहीं दीजिएगा । "

सुनीता—आपका जाना नहीं रुक सकता ?

सुनीता अब एक कुर्सीपर बैठ गई थी । हरिप्रसन्न नीचे फर्शपर बैठा था । हरिप्रसन्नने कहा, " भाग्यके हाथमें सब कुछ है । लेकिन रुकना कभी श्रेयस्कर हुआ है ? साँस रुकती है, उसे मौत कहते हैं । गति रुकती है, तब भी मौत है । हवा रुकती है, वह भी मौत है । रुकना सदा मौत है । जीवन नाम चलनेका है, भाभी ! "

सुनीता—मैं जानना चाहती हूँ कि आपको किस विशेष कामसे जाना होगा ?

हरिप्रसन्न—मैं यह जानना चाहता हूँ भाभी, कि मुझे फिर किस खास कामसे यहाँ रहना होगा ?

सुनीता—वह नाराज होंगे !

हरी—श्रीकान्त ? हँह...

सुनीता—सत्याको पढ़ाना शुरू किया है, सो—

हरी—सो तुम जानो। यह तुम्हारा ही काम तो है, भाभी, मैं खूब जानता हूँ। लेकिन मुझसे ऐसा डर न रखना।

सुनीताने तब गम्भीर किन्तु उतनी ही धीमी वाणीमें कहा, "देखो, तुम भागते हो तो भागो। लेकिन अपनेसे कहाँ भागोगे? कुछ और तुम्हे नहीं रोक सकता, यह ठीक। किन्तु स्वयं तुम अपनेको नहीं रोक सकते, क्या यह भी ठीक है?"

हरीने कहा, "भाभी!"

सुनीताने कहा, "जाओ। लेकिन जाकर कहाँ पहुँचोगे? वहाँ, जहाँ दुनिया नहीं है? ऐसी कौन जगह है? कौन जगह है कि जहाँ हम लोग नहीं हैं, तुम्हीं तुम हो? यह तुम्हारा हृदय तक भी वह जगह नहीं है, जानते हो? जी अपनेमें चुप, बन्द, चैनसे क्यों नहीं बैठता? क्यों वह धड़कता है?—जानते हो? इसीसे कहती हूँ, जहाँ कोई और न हो, वहाँ भी हम हैं। कहो, नहीं हैं? इससे हरि-प्रसन्न, मत जाओ। भागना तो नरकसे भी ठीक नहीं। क्योंकि नरकका भय फिर तुमपर सवार ही रहेगा। इससे आओ हरिप्रसन्न, हम दोनो परमात्माका विश्वास पाये और उसकी प्रार्थनामेंसे बल पाये।"

हरिप्रसन्न—भाभी!

सुनीता—मैं ठीक कहती हूँ, हरिप्रसन्न। प्रार्थनासे शक्ति आती है। अपनी अबलता स्वीकार कर न भागना अच्छा है, कि अपनी सबलताके दम्भमे पीठ दिखाकर भाग खड़े होना अच्छा है? जिस निर्बलताने रामका बल पकड़ा है, उसका बल फिर क्यों हारे?.. क्या कहींसे कर्मकी पुकार आई है कि तुम जाते हो? ऐसा है, तो जाओ। तब समझो कि मैं भूलमें थी। तब मैं भी यह समझ लूँगी। ऐसा नहीं है तो मान लो कि मैं भूलमे नहीं हूँ, और तब मत जाओ। परमात्मापर विश्वास रक्खो, वह भयसे हमें तारेंगे।—

हरिप्रसन्नने बीचमें कहा, "भाभी, तुम चली जाओ। तुम जा सकती हो। ऐसी बाते करने तुम यहाँ मत रहो। वे होंगी पवित्र, पर मेरी निगाह उनपर नहीं ठहरती, वे इतनी धौली हैं। बुद्धि उन्हे छूकर नहीं पाती, वे इतनी दुर्गम, ऐसी सरल हैं। परमात्मा हो, तो रहे। मैं अपनेको उसके साथ क्यों अटकाऊँ? मैं उसे अपना कष्ट न दूँगा। ..मेरे सामने चट्टान है। मैं चट्टान नहीं चाहता, तरल जल चाहता हूँ। उसे पानी हुआ-हुआ चाहता हूँ। मैंने उसमें सिर मारा, वह नहीं टूटी। सिर मार रहा हूँ, वह नहीं टूट रही है। एक तो यह है कि वह टूटे न टूटे,

मैं तो सिर मारता ही रहूँ, तब तक, जबतक कि सिर न फूट जाय। दूसरे यह है कि मैं सिर तोड़ूँ नहीं, यही नहीं, प्रत्युत समयपर यह चेतावनी ले लूँ कि चट्टान शायद चट्टान रहनेहीके लिए है, और सिर भी शायद उससे टकराकर तोड़नेके लिए नहीं है—और उस सिरको किसी और काममें लगाऊँ। क्या तुम यह कहना चाहती हो, भाभी, कि तुम्हारा परमात्मा हमें यहाँ तक शक्ति देगा कि हम सिर बचानेकी न सोचें, वह टूट भले जाय ?"

सुनीताने अति गम्भीर वाणीमें कहा, "हाँ, यह भी मैं कहना चाहती हूँ।"

हरिप्रसन्न पूछ उठा,—अटूटक सम्मुख रहकर, उससे लड़कर खील-खील हो जानेकी तैयारी क्या तुम रखती हो, भाभी ? बोलो।

कुछ ठहरकर, जैसे अपनेको समेटकर सुनीताने मानो एक एक शब्द कहा, "जो अहम्‌की शक्तिसे कठोर होकर खड़ा है वह तो खील-खील ही होगा। जो अपनेमें मात्र श्रद्धाकी शक्ति लेकर इतना सशक्त बना है कि अहङ्कारके सहारेकी जरूरत नहीं है, वह भला कैसे खील-खील होकर बिखर सकता है ? क्योंकि वह कठोर है ही नहीं। वह तो प्राण-वायुकी भाँति शून्य है। चट्टान टुकड़े टुकड़े हो रहेगी, पर आँधीके टुकड़े कैसे होंगे ?"

"भाभी, चुप होओ। बताओ तुम कहती हो, न जाऊँ ?"

"मैं नहीं कहती। मैं कहती हूँ कि जाओ भले, पर भागो मत। ..सच कहो, क्या मुझसे भागते हो ?—"

"तुमसे ?—हाँ—"

सुनीता कुछ मुस्कराई—"तो मैं भी तुमसे भागूँ ?"

"तुम ही कहती हो, भागो मत। मैं तो, हाँ, कहता हूँ, भाग जाओ। वक्त रहे, तब तक भाग जाओ। मुझे भी कहो, मैं भी भाग जाऊँ। भाभी, नहीं तो–"

सुनीताने व्यंग और विनोद-भरे शब्दोंमें कहा, "नहीं तो प्रलय होगी, यही न कहते थे ? अच्छी बात है, मैं भागे जाती हूँ।"

कहकर वह उठ खड़ी हुई। तभी बाहरसे आती हुई श्रीकान्तकी आवाज़ सुन पड़ी—'हरिप्रसन्न!'

सुनीता खड़ी होते होते बैठ गई, धीमे-से बोली, "लो, मैं तो भाग चली थी। पर भागनेका तो द्वार ही रक्षकसे घिर गया है।"

श्रीकान्तने आकर देखा, सुनीता कुर्सीपर है, हरिप्रसन्न नीचे बैठा है। उसके आनेपर सुनीता खड़ी हो गई है, माथेपर जरा धोती भी आगे ले ली है। उसने

कहा, “ हरिप्रसन्न, यह क्या है ? हमेशा तस्वीर-तस्वीर-तस्वीर ! चलो, उठो। .. (सुनीताकी ओर) तुम बैठो। ”

सुनीता कुर्सीपर वहीं बैठ गई। इसपर श्रीकान्त हरिप्रसन्नके बराबर ही फर्शपर आ बैठा। तब लज्जित-सी होती हुई सुनीता कुर्सीसे फिर उठ खड़ी हो गई।

श्रीकान्तने कहा, “अरे बैठो, बैठो, लिहाज़-तकल्लुफ यहाँ किसका है—मेरा ?”

किन्तु सुनीता फिर कुर्सीपर बैठ न सकी, कुछ देर असमञ्जसमें खड़ी रही, फिर चली जानेको हो गई।

“ ठहरना ज़रा,” श्रीकान्तने कहा, “ हाँ, आज तो ऊपर सो सकोगे न, क्यों हरिप्रसन्न ? (सुनीतासे) सुनना, वहीं इनका बिस्तर बिछा देना। (हरिप्रसन्नसे) क्यों ? ”

हरिप्रसन्न—यहीं सोऊँगा।

श्रीकान्त—क्यों, आज फिर तस्वीर ठीक करनी है ?

हरिप्रसन्न—अभी तो हाँ, है ही।

“ देखो हरी ! ” श्रीकान्तने कहा, “ वहाँ आज भी नहीं सोओगे तो शायद कल भी नहीं सोओगे। परसों मैं लाहौर जा रहा हूँ। हाईकोर्टमें एक अपिल है। तब यों कहो कि तुम्हारा आना मेरे लिए नहीं रहा, तस्वीरके लिए रहा। ”

इस बीच सुनीता कुछ देर ठिठकी खड़ी रहनेके अनतर चुपचाप चली गई थी।

हरिप्रसन्न बोला, “ परसों चले जा रहे हो ? मैं अभी उनसे कह रहा था कि परसों मैं चले जानेकी सोच रहा हूँ। ”

श्रीकान्तने एकदम कहा, “ तुम ? ”

हरिप्रसन्न—मुझे बता सकते हो, क्यों न जाऊँ ?

श्रीकान्त—जरूर बता सकता हूँ। यों न जाओ कि हम कहते हैं।

हरिप्रसन्न मानो पीड़ा-ग्रसित हँसी हँसा। यह श्रीकान्त कैसा सरल प्राणी है ! ऐसा सरल है कि उसके साथ मानों अनजाने भी छलसे बचना सभव नहीं है। व्यक्ति यदि पारदर्शक नहीं है तो क्या यह भी इस श्रीकान्त जैसेके प्रति छल नहीं है ?

हरिप्रसन्नने कहा, “ तुम कहते हो, इसलिए ? और तुम क्यों कहते हो ? ”

श्रीकान्त—मैं इस लिए कहता हूँ कि मुझमें कहनेका सामर्थ्य है।

यह सुनकर हरिप्रसन्न श्रीकान्तकी ओर सम्भ्रमसे देख उठा। श्रीकान्त सरल है, तो क्या साधनापूर्वक ही सरल नहीं है ? वह सरलता साधनाद्वारा उसने साधी है।

वह सरलता क्या तपस्या भी नहीं है ? क्या वह सरलता किसी तरह भी निरा भोलापन समझी जा सकती है ? हरिप्रसन्नने श्रीकान्तको देखा, कि देखता ही रहा, बोला नहीं।

श्रीकान्तने कहा, "यह तसवीर अभी कल पूरी नहीं होगी ? परसों हो जायगी ? खैर, उसके साथ तुम खुलकर समय लगाओ, समय तुम्हारा है। हमारा आरोप उसपर नहीं है। ··तो ऊपर नहीं सोओगे ? अच्छी बात है। मैं चलूँ। तुम नहीं जा रहे हो न ? ··बेशक, नहीं जा रहे हो। मैं तीन रोजमें लौट आऊँगा। देखो हरी, किसी बातसे घबराओ नहीं ! ·"

यह हरीको क्या कहा जा रहा है, कि—'घबराये नहीं !'

किन्तु श्रीकान्तने और भी स्निग्ध, सौम्य, भावासिक्त वाणीमें कहा, "हरी तुम्हारी भाभी तुम्हें कोई कष्ट न होने देगी। मैंने भी कह दिया है। हरी, हम लोग दुर्गम पथसे दूर हटकर सुगम राह पकड़कर चले जा रहे हैं तो क्या, उस पथके पथिकको समझना जानते हैं। हरी, घबराना नहीं। हम टूटें तो टूटे, पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढ़ते रहना।"

श्रीकान्त खडा हुआ, तब हरिप्रसन्न भी अनायास खडा हो गया, जैसे छोटा भाई हो। उसने कहा, "श्रीकान्त, मैं सच कहता हूँ, मेरे आरामकी बात उठाओगे, तो मेरे लिए दुस्सह हो जायेगा। मुझे बिलकुल अगणनीय ठहराओ। तब तो मैं हूँ, अन्यथा—"

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा अच्छा, इस बातको छोडो। तुम यहाँ खूब ही कष्ट उठाओ। लेकिन सुनो, मेरे पीछे अपनी भाभीको जरा भी कम अपनी न समझना। हरिप्रसन्न, मै उन्हें पहचानते पहचानते भी नहीं पहचाना हूँ, पाते पाते भी नहीं पाया हूँ। मुझे मालूम होता है कि तुम्हारे निमित्तसे मैं उन्हें अपने निकट पाऊँगा।"

हरिप्रसन्न इन शब्दोंको सुनता रह गया। यह शब्द अर्थ खोजते हुए उसके भीतर जोर जोरसे घूमने लगे। उसने देखा, श्रीकान्त धीर, थिर डगोंसे कमरेसे बाहर चला जा रहा है। उस समय उसका मन अतिशय त्रस्त हो आया और उसमें उठी भावनाकी एक हिलोर और वह एक ही साथ उस श्रीकान्तके प्रति श्रद्धा और दयाके भावोंसे अभिभूत हो गया।

कुछ काल इस अवस्थामें गुमसुम खड़ा रहकर हरिप्रसन्न बत्ती बुझाकर एक

आराम-कुर्सीपर लेट गया। पन्द्रह बीस मिनट उस कुर्सीमें निष्क्रिय पड़े रहनेके बाद बिजली खोलकर वह फिर चित्र ले बैठा और उसे बनानेमें लग गया।

३४

श्रीकान्तके लाहौर चले जानेके बाद हरिप्रसन्न बहुत ही कम अपने कमरेसे बाहर निकलता है। सदा चित्रको ही साथ रखता है। शामको सत्या आती है, उसे पढ़ा देता है। मानों इस जिन्दगीमें उसको यह कुछ दिन निकालने हैं, सो निकाल रहा है। मानों इन दिनोंके साथ उसको इतनी ही अपेक्षा है कि वे बीत जायँ। इससे अधिक कुछ नहीं है। सवेरे-शाम ठीक समयपर खाना खानेके लिए चौकेमे पहुँच जाता है। और निगाह नीची रखकर खाना खा लेता है, विशेष बोलता नहीं और आकर फिर तस्वीर ले बैठता है।

सुनीताको भी अपने कामसे काम है। अपने घर आये अभ्यागतको कोई असुविधा न हो, इतना ख्याल रखनेके बाद वह उस ओरसे बिल्कुल मुक्त क्यों न रहेगी? यही बात है। वक्तपर पान-इलायची दे आती है, दूध दे आती है, जरूरतकी और चीज़ें पहुँचा आती है। यह करके तुरत-पुरत लौट आती है, और बस।

एक दिन तस्वीर पूरी हो गई। प्रसव-कालके बाद शिशुको अपने बराबर खेलते पानेमें क्या भाव उठता है? वैसा ही भाव हरिप्रसन्नमें उठा। वह तस्वीरका सामने रखके कभी इधरसे और कभी उधरसे देखने लगा। उसे सम्भ्रम होता था। देखते-देखते वह एकाएक चल पडा।

ऊपर एक कमरा है, आगे सायबान। सामने खुली छत है। कमरेसे लगे स्नानागार वगैरह हैं। रास्ता कमरेके भीतरसे नहीं है, बाहरसे ही है।

शामके पाँच बजेका वक्त भला नहानेका वक्त है? लेकिन हरिप्रसन्न ऊपर पहुँचा, तो क्या देखता है कि भाभी सुनीता स्नान-घरमेंसे नहाकर निकली हैं। बाल पीठपर फैले हैं, धोती अभी पहनी नहीं गई, मानों जरा उसकी ओट ले ली गई है। पिंडलियों तक टाँगे खुली हैं, ऊपर धोतीका किनारा वक्ष-भाग तक आते-आते लिपट गया है।

तस्वीर समाप्त होनेके उल्लासमें हरिप्रसन्न जीनेहीसे कहता आ रहा था—"भाभी! भाभी!" ऊपर आकर जो देखा, देखकर स्तिमित नमित रह गया।

सुनीताने भी देखा और उसका मुख लाजसे लाल हो उठा। वह झटपट कमरेमें

घुस गई। हरिप्रसन्न गड़ा खड़ा रहा। न हिला, न डुला। मानों उसके गातमेंसे चेतना ही छिन गई।

अदरसे ही आवाज आई—आप बैठिए।

हरिप्रसन्न कहाँ बैठे, सो समझ न पड़ा। क्या सीधा कमरेमें ही पहुँच जाय? नहीं तो बाहर वहाँ बैठनेकी जगह कहाँ है? लेकिन उसे मालूम हुआ कि वह अभी यहाँसे चला जायगा।

उसने फिर सुना, 'जाइएगा नहीं, बैठिएगा।' और वह खड़ा रह गया।

थोड़ी देरमें सुनीता कमरेसे बाहर आई। उसने और कुछ अपनेको नहीं सँभाला, बस धोती ठीक पहन ली है। बाल अब भी छिटके हैं और उनमें कघी होना बाकी है। पहननेका कोई कपड़ा शरीरपर नहीं लिया गया है।

"बैठिए, आप खड़े क्यों हैं? यह खाट तो है, आइए—बैठिए।"

हरिप्रसन्न इस सबको क्या समझे? उसके मनमें क्या है, सो कैसे जाने, कैसे बताए, कैसे रोके? उसका सब उल्लास खो चुका है, और वह भ्रमित-सा खड़ा है। लज्जाको व्यर्थ करती हुई छटामयी यह जो नारी खड़ी है, कह रही है, 'आइए, बैठिए।'—उसको वह कैसे सहे?

उसने जो देखा है उसमे उसका दोष तो नहीं है, फिर भी दोषी नहीं है, ऐसी सान्त्वना उसके चित्तको नहीं होती।

सुनीताने हरिप्रसन्नको चुप देखकर कहा, "इतने दिनोंके बाद, ऐसे बेवक्त आज कैसे आगये? तस्वीर हो-गई क्या? नहीं तो उससे कब आपको फुर्सत मिलती थी।"

"हो गई।"

"हो गई! अब देखने चलूँ—यही न? लेकिन आपको मालूम है कि मैं तीसरे पहर कब आपके यहाँ नाश्ता देने गई! आप बहुत मशगूल थे, सो लिये लिये लौट आई। बैठिए, अब लाये देती हूँ।"

"जी नहीं, जी नहीं।"

"अच्छी बात है, आपके कमरेमें ही लिये आती हूँ।"

सुनीता जैसे ही जानेके लिए बढ़ी, हरिप्रसन्न उठकर चला आया।

हरिप्रसन्नके मनमें आज एकाएक एक नया विचार उदय हो आया। मानों जिसको सुदूरसे अनुभव करता था, आज वह प्रत्यक्ष हुआ है। यह सुनीता आज घरमें है, गृहिणी है। वह रणकी रणदेवी क्यों न बने? पौरुष कहाँसे साहस लेता

है ? युवकोंमें कहाँसे स्फूर्ति भरनी होगी ? वे कहाँसे मद पायेंगे ? जीवनकी स्पृहा उनमें कैसे जागेगी ? उसके लिए एक नारीकी आवश्यकता है। हाँ नारी। वह देवी हो, वह चण्डी हो, वह माया हो। कर्तव्यमेंसे नहीं आयगा उल्लास, उल्लास जागेगा मायाके आकर्षणमेंसे। माया भोग्य नहीं है, माया मरीचिका है। वह मायामयी नारी घरमें ही क्यों—वह बृहत्क्षेत्रमें क्यों नहीं ? वह भाभी ही क्यों ? अरे, वह ध्वजाधारिणी क्यों नहीं ?

एकाएक उसे जान पड़ा कि भाग्यने जो उसे सुनीताके तटपर ला छोड़ा है, सो इसलिए कि वह उसे पहिचाने, और उपयुक्त उपयोगितामें उसको प्रतिष्ठित करे। दलको एक दात्री चाहिए, जो युवकोंकी स्फूर्तिका स्रोत हो। आज सुनीताको देखकर हरिप्रसन्नको लग रहा है,—वह यही है, यही है!

कमरेसे आकर इसी विचारको वह अपने भीतर पल्लवित करने लगा। वह विचार देखते देखते रंग-विरंगके पत्र-पुष्पोंसे लसित उसके भीतर लहलहा उठा। मानों सुनीता इस घरकी है ही नहीं। वह हरिप्रसन्नके स्वप्नकी ही है। कीच, मट्टी, पत्थरके नीचे दबा हुआ हीरा क्या मुकुटमें अपने स्थानपर नहीं पहुँचेगा ? धरतीमें दबा वह तभी तकके लिए तो है, जब तक पारखीकी आँख उसे नहीं पाती। पारखी वह क्या है जो हीरेके प्रति अपनी जिम्मेदारीको नहीं पहचानता ? नहीं, वह अपने धर्ममें नहीं हारेगा।

सुनीता जब आई, हाथोंमें तश्तरी थी और वेश-भूषा सँभली थी। माथेपर सदाकी भाँति लाल बिन्दी थी।

इस बार हरिप्रसन्नने स्वयं उठकर तश्तरी उसके हाथमेंसे ले ली, कहा, "बैठो भाभी! इसको तो मैं रखे देता हूँ, अभी भूख नहीं है। लेकिन तुम बैठो। मुझे अब यह कहना है कि तस्वीर तो पूरी हो गई। अब मैं यहाँ और किस लिए रहूँगा ?"

सुनीताने कहा, "तस्वीर हो गई यह देखती तो हूँ। पर यह क्या है ?"

बैठी बैठी सुनीता तस्वीरको देखने लगी। ज्यों ज्यों वह तस्वीरको देखती है त्यों त्यों उसमें खोई-सी हो जाती है। मानो एक गुफा है जिसका प्रवेश-द्वार निमंत्रणपूर्वक खुला है, पर जिसमें प्रवेश करके वापिस आना नहीं होता, जिसका आर-पार नहीं है। मानो उस गुफाकी दहलीजपर खड़ी वह देख रही है, और पूछना चाह रही है कि यह क्या है ? बढ़नेका साहस नहीं है, पर आगेसे कोई पुकार आ रही है, जो कह रही है—'बढ़ आओ, बढ़ आओ।' और वह चाह

रही है जानना कि वह पुकार क्या है।

चित्रमें सुनीता सचमुच फँस-सी पड़ी। आँखें हटती न थीं, यद्यपि वे कुछ समझ नहीं पा रही थीं। चित्त चित्रके अर्थकी ओर जा रहा था जो पहेली-सा अन-बूझ लगता था।

हरिप्रसन्नने सुनीताकी यह अवस्था देखी। चुपचाप अपने हाथकी तश्तरी उसने दूर की, और धीमे-धीमे चलकर सुनीताकी कुर्सीके पीछे आ खड़ा हो गया। दाहिना हाथ उसके कधेपर रखकर बोला—भाभी!

भाभी बोली,—'यह क्या है?' मानों उसके मनके भीतर त्रास हो।

"क्या है? यह जिन्दगी है, भाभी। इसीका नाम क्रूसीफिक्शन है।"

अब तक हाथ सुनीताके कधेपर रक्खा था, पर मानों उस कधेको यह पता न था। अब मानों सकुचाकर उस कधेने कहा, 'यह नहीं, यह नहीं।', और हरिप्रसन्नका वह हाथ वहाँसे हट गया।

सुनीताने कुर्सी फेर लेकर कहा, 'इस तस्वीरका क्या मतलब है, बतला सकते हो?"

"पूरी तरह जानता नहीं हूँ, इसलिए नहीं बतला सकता।"

"ऐसी तस्वीरें बनाकर तुम्हें चैन मिलता है?"

इसपर हरिप्रसन्नने तुरन्त उत्तर न दिया। ध्यानपूर्वक सुनीताको देखा। फिर आप भी एक कुर्सीपर बैठकर बोला, "मेरे चैनकी बात छोड़ो, उसे मैं भुगतूँगा। लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ, भाभी, कि ब्याहको तुम क्या चीज मानती हो? उससे आगे होकर क्या कोई कर्त्तव्य नहीं है? जो हो, क्या उसमें तुम जीवनकी सिद्धि समझती हो? मैं कहना चाहता हूँ भाभी, कि तुम भूलमें हो।"

सुनीता चुप सुनती रही।

"तुम भूलमें हो। बाहर क्या हो रहा है, मालूम है? लाखों मोहताज हैं, त्रस्त हैं। उनके दुःखकी तोल हो सकती है? वह दुःख घरमें बैठकर कैसे मालूम हो? वह दुःख क्या उनका ही है, जिनको मिल रहा है? क्या तुम और हम निर्दोष-की भाँति अलग रहे आवें? क्या हम समझें कि उसकी आँच हमें तो लगती नहीं, तब हमें क्या? पर यह गलत है। बाहर आँच हो, तब कोठरीमें अपनेको मूँद लेनेसे बचाव नहीं होगा, आँख मूँद लेना काफी नहीं है।"

सुनीताने विषण्ण भावसे कहा, "मुझसे क्या चाहते हो?"

हरिप्रसन्नने तनकर कहा, "जो अपनेसे चाहता हूँ। अपनेसे चाहता हूँ कि निकल

चलूँ। इस फैले विश्वमें भयभीतको ढाढस दूँ, भूखेके लिए अन्नकी व्यवस्था करूँ, दम्भीका दम्भ तोड़ूँ, सकीर्ण स्वार्थोंकी दीवारें, जो समाजमें खड़ी हैं, उन्हें ढाह न दूँ, तो उनमें द्वार-खिड़कियाँ तो खोल दूँ। तुमसे चाहता हूँ कि जब तुम आर्त्तकी पुकार सुन सकती हो, तब उस पुकारकी तरफ़ बढ़ भी चलो। क्या यह सबसे कहा जाता है? क्या यह करनेका अधिकार सबको होता है? लेकिन जिनके कानोंमें वह पुकार पडी, सुनकर यदि वे उसे अनसुना कर दें, तो उनसे बडा अकृतज्ञ कौन है? भाभी—"

"ठीक बताओ, क्या चाहते हो?"

"भाभी, यहाँ कुछ लोग हैं, नये हैं, अनुभव-हीन हैं। मुट्ठी-भर हैं, पर युवा हैं। इरादेके धनी हैं। यों तो बालक हैं,—पर जानकी ममता उनमें नहीं है। भाभी, मैं देखता हूँ, उन्हें एक प्रतिमा चाहिए। एक चाहिए, जो, जब हारें तो उन्हें स्नेह दे। एक नारी, चिरतन माता, एक मायामूर्ति, जहाँसे वे स्फूर्ति लें और जिसके समक्ष वे शपथ लेकर आगे बढ़ें। तुम क्यों वह नहीं हो सकतीं? मैं देखता हूँ, तुम्हीं वह हो।"

सुनीताने खिन्न भावसे कहा, "आप मुझमें भूलते हैं। मैं तो अपनेको घरका जानती हूँ, और कुछ नहीं जानती।

हरिप्रसन्नने सुनीताकी नमी हुई आँखोंमे भरपूर देखते हुए कहा, "जो तुम हो भाभी, मैं जानता हूँ। सामने खडे कर्तव्यसे तुम नहीं मुड़ सकती, तुम अपनी शक्ति पहचाननेसे नहीं बच सकतीं। तुममें सब कुछ है। घर तुम्हारा नहीं छूटता तब सामने आये कर्तव्यके विषयमें जो कर सकती हो, उसे भी कैसे छोड़ सकती हो?"

मानों कहीं और हो, इस तरह सुनीताने कहा, "क्या करना होगा?"

हरिप्रसन्नने दृढ़ताके साथ सुनीताको देखते हुए कहा, "कल रात मेरे साथ चल सकोगी?"

"कहाँ?"

"सवेरे तक लौटना होगा, कुछ दूर जगलमें जाना होगा।"

"चलूँगी।"

"चलोगी?"

सुनीता एक बार 'चलूँगी' कहकर सामने अनिमेष देखती हुई बैठी रह गई।

हरिप्रसन्न—चलोगी? भाभी, चाहो, तो अब भी कह सकती हो, नहीं।

सुनीता चुप बैठी रही।

हरीप्रसन्नने सामने बढ़कर थिर भावसे बैठी हुई सुनीताका दायाँ हाथ अपने हाथमें थाम लिया। कहा, "भाभी!"

सुनीता अकुण्ठित भावसे हरिप्रसन्नको देखती रही, हाथ उसने खींचा नहीं।

उस समय हरिप्रसन्नने अत्यत अभ्यर्थनापूर्वक उस हाथको उठाकर मस्तकसे लगाया। बोला, "तुम्हारा नाम होगा भाभी, मायारानी!"

भाभीने कुछ भी नहीं कहा।

३५

आज एक पत्र सुनीताको मिला है। वह लाहौरसे आया है। दिनमें कई बार उसे देख चुकी है। अब सोने जानेसे पहले सुनीताने फिर वह पत्र पढ़ा। मानों वहीं उसे सहारा है, वहीं ढाढस है। पर मानों वहाँ भेद भी है। और क्या आज ही उसने अपने हाथको हरिप्रसन्नके हाथोंमें टिकने देकर नहीं कह दिया है—'मैं रातको तुम्हारे साथ चली चलूँगी?'

अकेलेमें, अब जब सोनेका ही काम उसे बाकी है, दुनियाका और सब काम निबट चुका है, चारों ओर मानो विराम अलसा रहा है, उसने अपनी आँखोंके सामने वही पत्र ले लिया। मानों वह उसका मंगल-पाठ हो, कवच हो, पहेली हो।

पत्र श्रीकान्तका है, लिखा है—

"प्रिय सुनी,

...मैं अभी चार-पाँच रोज यहाँ रहूँगा। अदालतका काम तो खत्म हुआ समझो। फिर भी मैं रहनेके लिए यहाँ चार-पाँच रोज रहूँगा।

हरिप्रसन्न वहाँ होगा ही। उसको किसी तरहकी बाधा न होने देना। उसे भागने भी मत देना। देखो सुनीते, इस बारेमें जो जो बातें मेरे मनमें उठती हैं, वह सब मैं कह नहीं सकता। हरिप्रसन्न क्यों बन्द है, क्यों अँधेरा है, यह मेरी समझमें नहीं आता। वह तो हम सबसे आज़ाद है, फिर भी वह आज़ादी उसके चेहरेपर कहाँ है? कहीं उसमें उल्लास दीखता है?—जैसे अभाव ही भीतरसे उसे खा रहा है।

तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बातपर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुमको ग़लत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता हूँ कि इन कुछ दिनोंके लिए मेरे ख्यालको अपनेसे तुम बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसीके लिए मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा हूँ।

हरिप्रसन्नमें कितनी क्षमता है, लेकिन उस क्षमतासे लाभ दुनियाको क्या मिल रहा है? मैं यही चाहता हूँ कि वह क्षमता उसकी व्यर्थ नहीं जाय। हमारा प्रयत्न हो कि वह समाजके लिए उपयोगी बने।

सुनीता, मुझे उसकी भीतरकी प्रकृतिकी बात नहीं मालूम। तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनोंके लिए अपनेको उसकी इच्छाके नीचे छोड देना। यह समझना कि मैं नहीं हूँ, तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा। कर्ममेंसे यों अपनेको ह्रस्व अनासक्त कर पाना ही तो इष्ट है। इसके लिए निस्सन्देह बडी साधनाकी आवश्यकता है। फिर भी यह तुम कर सकती हो। तिनका जो बहावपर बह रहा है, वह अपनेको बहता हुआ रहने दे, इसमे क्या उसे मुश्किल है? यों वह तिनका बेचारा कर भी क्या सकता है? फिर भी अगर आदमी-जैसा अह-भाव उसमे हो तो वह बहावमे बहता तो अवश्य जाय, पर बेचारा रोता-झींकता भी जाय। इन कुछ दिनों अपनेको सम्पूर्ण रूपसे बिसार देनेको मैं तुम्हें कहता हूँ। चार-पॉच रोज आरामके साथ यहॉकी दर्शनीय चीज़ें देखूँगा। सो तुम मुझको अपने मनपरसे बिल्कुल खिसका देकर इन दिनों रहना।

सत्या तो पढ़ने आती होगी। हरिप्रसन्न पढ़ाता भी होगा। मैंने कुरेद-कुरेदकर पूछकर नहीं जानना चाहा कि हरिप्रसन्न हमारे घरमें क्यों है, और कितने दिन है। न जाननेकी जरूरत ही अब मुझे दीखती है। यह काम तो उसका ही अपना है, फिर भी हमारा घर तो शायद उसके लिए सरायके मानिन्द है। तुम उसकी इस वैरागी वृत्तिको किसी तरह कम कर सको, उसमें कहीं बँध कर बैठनेकी चाह उपजा सको, तो शुभ हो। हरिप्रसन्नके मामलेमे मुझे मालूम होता है कि यह असम्भव नहीं है। महात्मा शायद वह नहीं है। कलाकारसे जो मैं समझता हूँ, हरिप्रसन्न उतना ही है। उससे आगे होकर वह नहीं है। कलाकार भटकता न रहे, उद्भ्रान्त न रहे, किसी प्रयोजनमें नियोजित कर दिया जाय, तो वह बड़ी शक्ति बन जाता है। नहीं तो वह अपनेको ही खाता है।

मैं अपनेको अल्प-प्राण ही गिनता हूँ। वकालत करता हूँ, गृहस्थी चलाता हूँ। इस तरहके सीमित दायरे अपने चारों ओर लेकर चल सकनेवाला हरिप्रसन्न नहीं है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसको मार्ग देनेके लिए हम झुक भी जायें, हट भी जायें तो हर्ज नहीं है।

सुनीते, आशा है, तुम मुझे समझती हो। यह भी आशा है कि अन्यथा नहीं

समझती । मैं उस दिनकी प्रतीक्षा करना चाहता हूँ जब हरिप्रसन्न जीवनमें कुछ प्रयोजन सम्पन्न करने आगे बढे, आइडिया दे, और वह आइडिया समाजमें उगता हुआ और फलता हुआ दीखे । हरिप्रसन्नकी प्रतिभामें यह बीज है, लेकिन वह सहानुभूतिसे सिंचे, तब न ।

साथका पत्र हरिप्रसन्नको दे देना ।...

तुम्हारा—श्रीकान्त ”

सुनीताने सोनेसे पहले एक बार फिर उस पत्रको पढ़ा है, फिर भी जैसे पूरी तरह उसका भाव उसे नहीं मिल रहा है । अब तक हरिप्रसन्नका पत्र उसने हरिप्रसन्नको नहीं दिया । सोचती थी कि दे दूँगी, जल्दी क्या है । इस रातके समय किन्तु उसके लिए असम्भव हो गया कि वह हरिप्रसन्नके पत्रको भी न देख ले । पढ़ा—

“ प्रिय हरी ! ”

लाहौरमें कामसे मुझे और भी ठहरना होगा । तुम इतनेमें कहीं चल न देना। तस्वीर तुम्हारी चल रही होगी । मैं जानता हूँ; वह खासी चीज होगी । सर्वांशतः तुम इतने दिन उस तस्वीरके होकर रहे भी तो हो । मेरे मनसे कई बार आया है कि मैं तुमसे कुछ बातें करूँ, पर तस्वीरमें तुम्हारी व्यस्तता देखकर चुप रह गया हूँ । तुम यह तो देखते ही हो कि दुनिया जो चाहिए, वह नहीं है । उसे ठोक-पीटकर सँवारना-सुधारना भी होता है । उसके लिए क्या करना होगा, उसका विधायक कार्य-क्रम कोई बनाओ, इसीकी आशा मैं तुमसे किये हुए हूँ । इसीका आग्रह मैं अब तुमसे करना चाहता हूँ । रिवॉल्वरको दूर हटाओ, उससे रोगीको दूर किया जा सकता है, पर रोग तब भी दूर नहीं होता । व्यक्ति तो रोगका शिकार है, रोग समाजके शरीरमें व्यापा है, संस्था-बद्ध है । रिवॉल्वर क्या अधीरताका परिणाम नहीं है ? अधैर्यसे रोगका निदान और रोगसे मुक्ति कैसे होगी ? जो प्रत्यक्ष वर्तमानकी हीनता देखकर मनमें असन्तोष उठता है, रिवॉल्वर तो उससे सस्ती छुट्टी पा लेनेका उपाय है । किन्तु उस घूँटको गलेमें अटकाए रखकर धीर भावसे जिये चलना होगा । उस असन्तोषको तो प्रतिक्षण पीते हुए हमें कर्ममें लगे रहना है । सस्ती छुट्टी यहाँ कहाँ ?

हरिप्रसन्न, मैं सुनूँ कि रिवॉल्वर तुमने हटा दिया, तो मुझे बहुत खुशी हो । तब मैं समझूँ कि हरिप्रसन्नने अपना काम पहचाना है । समझूँ कि जो एक ममता उसमें शेष थी, वह भी उसने तज दी है ।

सत्या तो पढ़ने आती है न ? और तुम पढ़ाते हो न ?

ऐसा न हो कि अपनी भाभीका लिहाज रखकर घरमें तुम किसी तरहकी तकलीफ पाओ। वह ऐसी तो नहीं है फिर भी—

तुम्हारा
श्रीकान्त "

सुनीता, पढ़कर, उस पत्रको हरिप्रसन्नको पहुँचा देनेके लिए बिना सोचे-समझे उसी समय चल खड़ी हुई।

हरिप्रसन्न अपने कमरेमें पलँगपर लेटा था। उसकी आँखोंमें नींद नहीं थी। वह अपने आप इस पलँगको जरूरत हुई, तब बिछा लेता है और बहुत सवेरे उठकर अपने आप उसे बाहर रख आता है। वह सोया नहीं है, फिर भी कमरेमें रोशनी नहीं की हुई है। कमरेसे बाहर कुछ ही फुटके फासलेपर रातकी चाँदनी फैल रही है, वह उस चाँदनीकी ओर देखता हुआ जाने क्या सोच रहा है।

सुनीता जब चलती हुई कमरेके पास आई, तब वहाँ अँधेरा देखकर बोली, 'ओह—सो गए ?' और कहकर मानों लौटनेको हुई।

'ओह, सो गए !' यह इस भाँति कहा गया कि हरिप्रसन्न तनिक भी जाग रहा हो, तो सुने बिना न रहे।

एकाएक भाभीका स्वर सुनकर हरिप्रसन्नका जी उछल पड़ा। अनायास वह बोला, " भाभी, आओ। "

सुनीता उस समय ठिठककर रह गई।

हरिप्रसन्नने पलँगपर बैठकर कहा, " आओ, भाभी ! मैं सोया नहीं हूँ। "

कमरेमें थोड़ा-थोड़ा दीखता था। क्या सुनीता प्रतीक्षा करे कि कमरेमें कब रोशनी होती है, रोशनी हो तब वह जावे ? या कि वह, तनिक अँधेरा है तो क्या, बढ़ी ही जाय ? क्षणिक ठिठकी रहकर, फिर वह कठोर भावसे डग बढ़ाती हुई चली गई। जाते ही उसने स्विच खोला, बोली नहीं। पलँगपर उठकर बैठे हुए हरिप्रसन्नके सामने उसने चिट्ठीका कागज डाल दिया, और स्वयं पलगकी पाटीके पास खड़ी रही।

हरिप्रसन्नने अभी कागज उठाया नहीं। वह इस भाभीको देखता रह गया। क्षण-भरमें बोला, " बैठो भाभी। "

सुनीता बैठनेके विरोधमें मानो कुछ और चली जानेको उद्यत-सी दीखी।

अबतक प्रतीक्षा-सी थी कि भाभी बैठेंगी। हाँ सो क्या, पलंगपर ही बैठेंगी। चली जानेको उद्यत देखा, तब हरिप्रसन्नने झटपट कहा, "कुर्सी लाता हूँ भाभी, बैठो।"

सुनीता तुले शब्दोंमें बोली, "मैं बैठूँगी नहीं, यह चिट्ठी कल दोपहर आ गई थी। मुझे देनेकी याद नहीं रही। आप पढ़ लीजिए, मैं खड़ी हूँ।"

"बैठोगी नहीं?"

हरिप्रसन्नने यह कहा, और सुनीताको देखकर जान लिया कि वह चिट्ठी पढ़ ही ले और सुनीताको तो जहाँ है वहीं रहने दे, यही उत्तम है।

पत्र पढ़कर हरिप्रसन्न जैसे कुछ कठिन हो आने लगा। विपत्तिके सामने वह हँस सकता है लेकिन सहानुभूतिके सामने जैसे उसे भय होता है। सलाहके सामने वह कठिन पड़ता है। मन ही मनमें वह शायद स्वयं इस बातको अस्वीकार नहीं कर पाता है कि रिवॉल्वरमें उसके मनकी गाँठ ही मूर्तिमान् है। राह बड़ी है, सो उससे बचनेके लिए मानों यह रिवॉल्वरका शॉर्ट-कट है। श्रीकान्तने उसकी इसी ग्रन्थिको पकड़ा है। अपनी भीतरकी गाँठ बाहर पकड़ गई हुई देखकर किसमें विरोध न हो? सब अपनेमें कुछ भेद रखते हैं, उसको पोसते भी हैं। एक बार पत्रको पढ़कर फिर उसकी निगाह उसके शब्दोंपर गई। मानों वह अब इस पत्रको शब्द शब्द पढ़ेगा, अभीतक इकट्ठा पढ़ा था। उसी समय उसने सुना—

"रिवॉल्वर आपके पास है?"

चकित होकर हरिप्रसन्न सुनीताको देख उठा।

"है?"

हरिप्रसन्न देखता ही रह गया।

"आपके पास रिवॉल्वर है?"

हरी—यदि मैं कहूँ, है—

सुनीता—तो कहिए क्यों न, कि है।

हरी–है।

सुनी०—कहाँ है?

हरी—यहीं है।

सुनी०—आप उसे चलाना जानते हैं?

हरी—जानता हूँ—

सुनी०—कार्तूस भी हैं ?

हरी—हैं ।

सुनीता अपने आप पाससे कुर्सी लेकर उसपर बैठ गई, बोली—

"मुझे दिखला सकिएगा ?"

तब हरिप्रसन्नने मानों एक साथ उत्तिष्ठ होकर कहा, "तुम्हे क्या हुआ है, भाभी ? तुमने यह चिट्ठी पढ़ी मालूम होती है ।"

"हॉ पढी है । लेकिन मुझे दिखाइएगा नहीं कि रिवॉल्वर कहॉ है, कैसा है ?"

हरिप्रसन्नने कहा, "भाभी, मैंने कल रातके लिए यह सब कुछ सोचा था। तब तुम एक रिवॉल्वर क्या, बहुतेरे देखतीं । और वे सब तुम्हारे चरणोंमें होते । वे सब तुम्हारे होते । तुम इस एकके लिए क्यों लालायित होती हो, भाभी ? उसमें क्या रक्खा है । श्रीकान्त ठीक कहता है कि उसमें कुछ नहीं रक्खा । तुममें उसकी उत्सुकता क्यों ? वह तो लोहेका यन्त्र है । ऐसा भी तो नहीं जैसा बिच्छू, उतना भी जानदार नहीं । उसीके प्रति तुम इच्छुक हो ?"

सुनीताको क्या हुआ ? कुर्सीसे उठकर वह सीधे पलंगके पास आ गई और झुककर उसने हरिप्रसन्नके दायें हाथकी उँगली पकड़ ली । खींचते हुए कहा, "मुझे दिखाओ, कहॉ रखा है ? मैं जरूर देखूँगी ।"

इस भाभी सुनीतामें बालिका सुनीता भी है, और कभी वह यों मचल पड़ेगी इसका भला हरिप्रसन्नको कब आभास मिला था । मानों उस एक क्षणमे सुनीता उसके लिए एकाएक अतिस्पृहणीय हो उठी ।

"मैं जरूर देखूँगी । बताओ कहॉ है ?"

हरिप्रसन्न जोरसे हँस आना चाहने लगा, पर हँस सका नहीं । उसने कहा, "मुझे नही मालूम, मैं कुछ नहीं जानता ।"

जैसे उसके सामने एक नवीन उत्सुक किशोरिका हो और उस किशोरीके सामने अब वह भी एक किशोर ही हो पडा हो । उसने सुना—

"नहीं दिखाओगे ?"

"जरूर दिखाना ही होगा ?"

"हॉं, क्यों नहीं दिखाना होगा ?"

"क्यों नहीं दिखाना होगा ।" कहनेवाली सुनीताको हरिप्रसन्न सभ्रमसे भरपूर देख उठा । उस समय सुनीताके चेहरेपर क्या कच्चा रग आ छाया था कि

देखते देखते हरिप्रसन्न एक साथ दोनों हाथोंसे उसकी बाँह मजबूतीसे पकड़कर खींचते हुए बोला, " बैठो, मैं लाता हूँ। "

बाँहसे खींचकर जब पलङ्गपर सुनीताको बिठा लिया, तब एकदम उसके हाथ छोड़कर वह हाँफता हुआ-सा तत्परतापूर्वक उठ खड़ा हुआ, और अलमारीकी छतपरसे रिवॉल्वर और कार्तूस दोनों चीजें उतार लाया।

पलङ्गपर बैठी सुनीतासे सम्भ्रमपूर्ण फासलेपर खड़े होकर उसने रिवॉल्वरका केस सामने डाल दिया, कार्तूसोंकी पोटली भी डाल दी।

सुनीता चुपचाप धीरे धीरे उन्हें खोलने लगी। रिवॉल्वर उसने खोलकर बाहर निकाला। वह उसकी कुछ भी समझमें न आ रहा था। उसका प्रयोग समझमें नहीं आ रहा था, इतना ही नहीं, उसका रूप ही समझमे नहीं आ रहा था। किस भाँति यह बालिश्त भरकी चीज खिलौना नहीं है, उसके जीमें यह बैठता ही न था। किन्तु इसके साथ ही उसमें एक अतर्क्य दहशत भी थी। उसने फिर कार्तूस खोले, उन्हें गौरसे देखा, रिवॉल्वरको भी चारों ओरसे घुमा-फिराकर देखा।

इस बीच वहाँ सन्नाटा रहा। हरिप्रसन्न अपना मन थामे था, जैसे कि बदहवास घोड़ेको कोई जोरसे लगाम खींचकर थामे हो। वश चले तो वह अपनी साँस भी थाम ले। वह खड़ा हुआ सुनीताको देख रहा था। देख रहा था कि यह सुनीता अपनेसे बेखबर है। यह भी तो खबर नहीं कि ऐसे वक्त ऐसी बेखबरी बिल्कुल ठीक नहीं है, वह घातक हो सकती है।

अकस्मात् सुनीताने कहा, " यह कार्तूस उसमें भरे कैसे जाते हैं? "

हरिप्रसन्न देखता ही रहा।

" कैसे भरे जाते हैं? "

यह कहकर सुनीताने रिवॉल्वर हरिप्रसन्नकी ओर बढाया। हरिप्रसन्नने चुपचाप उसे लिया। उसके बाद उसी प्रकार सुनीताके फैले हुए हाथमेंसे उसने कार्तूस उठा लिया। रिवॉल्वरको खोलकर और उसमें कार्तूस डालकर दिखाते हुए कहा, " ऐसे भरा जाता है। "

" देखूँ। "

" नहीं—"

" देखूँ तो—"

हरिप्रसन्नने कार्तूस अलग निकालकर कहा, " लो देखो। "

सुनीताने उसी भाँति खुले रिवॉल्वरको ले लिया और तब वह स्वय कोशिश

करने लगी कि कार्तूस उसमें भर सके।

हरिप्रसन्न चित्र-लिखा-सा सुनीताको देखता रहा। क्या है कि वह उससे दूर खड़ा है, वह नहीं जानता। कौन यह नारी है कि उसके ही पलङ्गपर बैठी, रातको अकेलेमें, कैसी अद्वितीय, कैसी असहाय, फिर भी केसी निश्चिन्त और कैसी मनोज्ञ, उसके रिवॉल्वरसे खेलती हुई बैठी है, नहीं जानता।

अन्तमें सुनीताने रिवॉल्वरमें कार्तूस डाल ही दिया। कहा, " लो, अब इसे चलाकर बताओ तो ? "

हरिप्रसन्न रिवॉल्वरको जैसे एक हाथमें झपट लेकर बोला, " भाभी ! "

सुनीताने थोड़ा हँसकर कहा, " नहीं, अपनेपर चलानेको नहीं कहती हूँ। "

हरिप्रसन्न देखते देखते, सुनते सुनते, एक नशे-सेमें भरता आ रहा था। वह एक साथ पलगपर पास आ बैठा। उसके एक हाथको अपने बाये हाथमे दबाकर बोला, " क्या कहती हो, भाभी ? "

सुनीताने कहा—चलाकर बताओ।

" चलाकर बताऊँ ? "

मानो सुनीता किशोरी ही हो, कहा, " हॉ, बताओ। "

हरिप्रसन्नने रिवॉल्वरकी नलीको अपनी कनपटीपर टिकाकर सुनीताके हाथको अपने बॉयें हाथमें लिये लिये कहा, " चलाकर बताऊँ, भाभी ? कहो—"

हरिप्रसन्नने देखा, सुनीताके चहेरेपर एक साथ घना अँधेरा-सा छा गया है, वह सहमी हुई है। उसने फिर कहा, " चलाकर बताऊँ, भाभी ? "

सुनीताका चेहरा भयसे सफ़ेद हो गया।

हरिप्रसन्न—मैं मरना नहीं चाहता, लेकिन कहो तो चलाकर बता सकता हूँ। मेरे जीनेमें रस क्या है, अर्थ क्या है ?...इसके चलानेमें कुछ भेद नहीं है, भाभी। यह घोड़ा है, दबाया कि चला। कहो, भाभी, चलाऊँ ?

सुनीताने हरिप्रसन्नको देखा। वह कॉप-सी आई, ऐसा कुछ तत्पर, भयकर उसके चेहरेपर लिखा था। ' हॅसी तो यह है, लेकिन पलक मारतेमें यह घटना भी तुम्हारे कहनेसे हो जाय, तो भी क्या बुरा है, भाभी ! '—मानों हरिप्रसन्नका चेहरा यह भी उससे कह रहा है।

सुनीता कातर होकर चिल्ला-सी पडी—'हरी, हरी ! ' और उसने जोरसे अपने दोनों हाथोंसे हरीकी दायीं बॉहको चिपटकर पकड़ लिया। उसकी ओर निवेदित ऑखें उठाकर कहा—' हरी, हरी ! '

हरिप्रसन्नने तब कमरेसे बाहर खुले आसमानकी ओर पिस्तौल उठाकर कहा, "ऐसे यह चलाया जाता है, लो।" और घोड़ा दबा दिया।

पिस्तौलके छूटनेकी गूँज कुछ देर तक सुनीताके मनमें भरी रही, और वह उसी जोरसे दोनों हाथोंसे हरिप्रसन्नकी बाँहको दाबे रही।

जो हरिप्रसन्नने जिन्दगीमें कभी नहीं जाना, वह इन क्षणोंमें जाना। उसने थोड़ा-सा सुख जाना।

उस समय अति स्निग्ध स्वरसे हरिप्रसन्नने कहा—डर गईं, भाभी?

सुनीताने कुछ रुककर धीमे-से कहा, "हाँ, डर गई। यह मुझे दे दो।"

हरिप्रसन्नने साँस खींचकर कहा, "क्या कहती हो, भाभी? तुम माँगोगी और मैं इंकार करूँगा, क्या तुम जानती थीं कि यह भी होगा? लेकिन यह नहीं दे सकूँगा।"

सुनीताने अब हरिप्रसन्नका हाथ छोड़ दिया। उसकी दोनों आँखोंमें अपनी आँखें डालकर कहा, "अच्छा कहो, ऐसा खेल अब नहीं करोगे।"

हरिप्रसन्न कुछ नहीं बोला, चुप रहा गया!

"अब तो नहीं करोगे?"

हरी हँसनेको हुआ लेकिन इस हँसनेके प्रयासमें उसका मुँह बिगड़कर रह गया, हँस नहीं पाया। वह कुछ बोला नहीं।

"हरी, सुनो मैं कहती हूँ कि अब तुम ऐसा नहीं करोगे।"

"नहीं करूँगा।"

इसके बाद दोनों जहाँका तहाँ रह गये। कोई कुछ नहीं बोला। सुनीता नीचे देख रही थी। हरिप्रसन्नकी आँखें उसीकी झुकी हुई दृष्टिपर थीं।

थोड़ी देर बाद हरीने कहा, "सुनीता, देर हो गई। अब जाओ।"

सुनीता पलंगसे उठी, मानों जागी हो। पूछा, "क्या बज गया होगा?"

"एक बज गया होगा।"

"ए-एक!!" जाते हुए सुनीताने कहा, "हरी तुम भी सोओ।" हरीने कहा, "हाँ, सोता हूँ," और जाती हुई सुनीताकी ओरसे मुँह फेरकर वह किसी और ओर देखता बैठा रहा।

३६

सुनीता इतनी गई रात आकर भी सोई नहीं। आज मानों श्रीकान्तकी उसे अत्यन्त आवश्यकता है। वह उसका पति है, वहीं उसको सहारा है। पतिहीमें

तो नारीकी सम्पूर्ण कृतार्थता है। अरे वही अब उसके पाससे अनुपस्थित होकर दूर बैठा कैसा पत्र भेज रहा है कि—मुझे दूर ही मानो, मुझे भूल जाओ। पतिके प्रतिनिधि इस पत्रको क्या सुनीता स्वीकार करके उससे दूर ही चली जाय? उसे भूल ही जाय?

वह सोचने लगी कि अगली रात तक ही मानो उसका यह जन्म है। क्या अगली रात उसे पुनर्जन्म ही नहीं ले लेना होगा?...वे लोग कौन हैं? वे क्या चाहते हैं? अपनी जानको हथेलीपर रखकर वे लोग क्या चाहते हैं? ..किन्तु सच, परिवार ही क्या व्यक्तित्वकी परिधि है? क्या मैं इसीमें बीतूँ? क्या इसे तोड़कर, नाँघकर, एक बड़े हितमें खो जानेको मै न बढ़ूँ? उस विस्तृत हितके लिए जिऊँ, उसीके लिए मरूँ तो क्या यह अयुक्त है, अधर्म है?.. ओ मेरे स्वामी, तुम कहाँ हो? कहाँ हो? भला जी, तुमने ऐसी चिट्ठी मुझे किस लिए लिखी? .. क्या इसीलिए कि मुझे परखमें डालना चाहते हो? ..

कल रात!···वह क्या जीवन है? वहाँ उत्सर्ग ही व्यक्तिका लक्ष्य बनता है, संचयसे व्यक्ति वहाँ पराङ्मुख होता है। मैं उससे इकार कर सकती हूँ? मैं, सच, कैसे इकार कर सकती हूँ?—लेकिन कल रात मुझे कहाँ जाना होगा? ··ओ स्वामी, तुम कहाँ हो? कहाँ हो? मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठीका क्या यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वय कुछ नहीं रहना है, नियतिके बहावमें बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है?

जीवनमें इतनी अवश सुनीता शायद कभी नहीं हुई। मानों इस समय श्रीकान्तके प्रति वह अपनेको सर्वशः बहा देना चाहती है, कि बहती बहती उनके चरणोंको पखारने वह उनमें पहुँच जाय।

इस स्थितिमें आकर वह उसी समय हरिप्रसन्नकी तरफ जानेको उद्यत हुई। कहेगी, कि नहीं, मैं नहीं जा सकूँगी। मै इस घरसे टूटकर जाऊँगी तो जिऊँगी नहीं। मै इस योग्य नहीं हूँ। तुम्हारा काम बडा है लेकिन मैं क्षुद्र हूँ। इसी घरकी दीवारोंके भीतर मेरा स्थान है। घर बन्धन है, तो हो, लेकिन मुझे तो मोक्ष भी यहाँ ही पाना है। राष्ट्रको मैं क्या जानूँ? पर पतिको मै जानती हूँ, वह मुझे बहुत स्नेह करते हैं। उनके साथ मेरा विवाह हुआ है। विवाह कुछ हो, लेकिन भगवान् उसके साक्षी हैं। अग्निदेव उसके साक्षी है। समाजके और लोग भी तो उसके साक्षी हैं। वह मिटेगा नहीं, छूटेगा नहीं, टूटेगा नहीं। क्या धर्म इसलिए है कि टूटे? तुम कहते हो क्षुद्र-प्राण जीवन, अल्प-प्राण जीवन। कहो, लेकिन मेरे लिए वही

जीवन बहुत है। तुम राष्ट्रके लिए मेरा स्वत्व-दान माँगते हो। मैं इससे चूकती नहीं, लेकिन मैं अपना स्वत्व पतिकी सेवामें अर्पण कर दूँ तो क्या अन्तर है? मेरे लिए इतना ही तो इष्ट है कि मैं अपना स्वत्व अपने पास न रखूँ, उसे लोगोंके चरणोंको सहारनेवाली धूलमें मिला दूँ?—राष्ट्रकी नींवमें मैं अपने स्वत्वको चढ़ा दूँ—हरिप्रसन्न, यही न तुम कहते हो? कहते हो कि राष्ट्र विराट् है, व्यक्ति छोटा है। ठीक, किन्तु राष्ट्र मुझे अप्राप्त है, मेरे निकट प्राप्त तो व्यक्ति ही है। मेरे लिए तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय जिस व्यक्तिमें समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं। उनके चरण जहाँ जहाँ धूलि-पर पड़ते हैं, उस धूलिके कणोंमें मैं अपनेको खो दूँगी। तब मेरे पास स्वत्व शेष ही कब रहेगा, जो तुम्हारे राष्ट्रको दूँ? इससे, हरी भाई, कल मैं न जाऊँगी। यहाँ ही रहूँगी। इतिहास, अतीत इतिहास और भावी इतिहासकी वीराङ्गनाओंको मैं प्रणाम करती हूँ। भगवानकी उन्हें देन थी। किन्तु मैं अपने घरमें क्यों अतृप्त होऊँ? क्यों न यहीं मेरी सम्पूर्णता हो? हरिप्रसन्न, तुम शत-शत वर्ष जिओ। तुम्हारा सेवा-धर्म कठिन है। तुमने मार्ग काँटोंका चुना है। तुम वीर हो, तभी ऐसा है। किन्तु मुझे जो मार्ग मिला है, वह यदि काँटेका नहीं है, तो क्या मैं उसकी स्पर्धा करूँ? अपना मार्ग छोड़ चलूँ? तुम्हारे धर्मके प्रति मुझे विस्मय है, वह दुष्कर है। उसके आकर्षणसे कैसे बचूँ? मेरा धर्म सरल है, तब भी मेरा है। सरल होकर भी मेरे लिए वही कठिन है। उसे छोड़कर वीराङ्गनाकी राहपर चलनेको क्यों मुझे निमंत्रण देते हो? हरिप्रसन्न, मुझे छोड़ो। कल रात मैं नहीं जा सकूँगी। कभी नहीं जा सकूँगी।

इसी तरहकी बातें उसके मनमें उठने लगीं। आरम्भमें तो उसने सोचा भी कि अगले रोज दिनमें ही जाकर हरिप्रसन्नसे यह कह दूँगी। लेकिन इस प्रकारके विचार जब वेगसे उसके भीतर उठने लगे, तब वह सहसा भूल गई कि रात तीन पहर बीत चुकी है और वह उसी समय हरिप्रसन्नके कमरेकी तरफ चल दी।

किन्तु, कमरेमें था ही कोई कहाँ? वहाँ सब सन्नाटा था। सुनीताने बत्ती खोलकर देखा। और भी कमरोंमें देखा, आवाज़ें दीं। पर हरिप्रसन्न कहीं था ही नहीं। सुनीताको बड़ा विस्मय हुआ कि इस समय हरिप्रसन्न कहाँ चला गया? अनायास वह जीनेकी तरफ गई। दीखा, कि जीना बन्द नहीं है। रोज़ तो वह रातको बन्द ही रहा करता है। हरिप्रसन्न क्या इस समय कहीं बाहर चला गया है? कहाँ गया है?...लौटकर वह स्टडी-रूममें आई। रिवाल्वरकी

जो जगह थी, वहाँ रिवाल्वरको देखा। वहाँ वह न था। कार्तूस भी एक न था। और भी देखा कि और सामान लगभग यहीं है। अण्डी-चादर बेशक कम है।

. तभी हठात् दीखा कि तस्वीर अभी बोर्डपर ही चढ़ी, एक अलमारीके सहारे टिकी है। इस तस्वीरमें अँधियारे स्तूपके आगे दोनों बाँहें फैलाकर चिरन्तन-रूपमें कुछ पुकारता हुआ जो निरीह, नग्न-पुरुष खड़ा है,—जिसके पट्ठे उभरे हैं और देह बलिष्ठ है, किन्तु जो अतिशय कातर होकर प्रार्थी बना है—क्रॉस-कीलित वह पुरुष मानों सुनीताकी दृष्टिको बाँध लेता है। सुनीता जब उसे देखती है, देखती रह जाती है। कुछ उसमें स्पष्ट नहीं है। फिर भी एक प्रकारकी भयकर प्रतीक्षा उस चित्रमेंसे फूट-फूटकर सुनीताके कलेजेमें लगती है। उस स्तूपके अँधेरेमें क्या है? क्या है? वहाँ क्या कोई आकृति भी है? शायद है तो। पर ठीक तरहसे कुछ समझमें नहीं आता। पर जिस अज्ञेय, अतर्क्य, अथाहके सम्मुख होकर यह चिर-प्रश्न-जड़ित प्राणी एक ही मुद्रामें इस भावसे खड़ा है कि अनन्त काल तक भी उसका प्रश्न और उसकी प्रतीक्षा टूटनेवाली नहीं है—वह रहस्यशील, दुरधिगम्य, सुनीताको मानों एक ही साथ गँस लेता है। उसे देखते देखते सुनीता मानों बेबस हो पड़ी और उसने एक साथ उस चित्रको ऐसे घुमाकर रख दिया कि वह दीखे नहीं। तब जोरसे झपटती हुई गई और जीनेका दर्वाजा बन्द कर दिया। उसके बाद सीधी अपने कमरेमें आ गई, और बिना देर लगाए पलँगपर लेट गई।

वह कुछ नहीं सोचेगी। एकदम सो जायगी। कल सवेरे तो सूरज निकलेगा ही। तब उजाला अपने आप हो आयगा और सब अपने-आप ठीक हो जायगा। इस रातमें तो आँख मूँदकर वह सो ही जायगी, कि जब आँख खुले तब उजेला हो, अँधेरा लुप्त दीखे। अरे नहीं नहीं, वह कुछ नहीं सोचेगी, कुछ नहीं सोचेगी। वह अभी इसी क्षण सो जायगी।

और वह चादर ऊपर लेकर सो गई।

३७

सो तो गई, किन्तु—

गहरी नींदमें थी, तभी खटका सुनाई दिया। उठकर बैठी और मालूम हुआ कि कोई जीनेके दरवाजेको जोर-जोरसे खटका रहा है। कुछ देर तो वह अनिश्चयमें ही बैठी रही; हिली न बोली।

पर खटकेमें भी जब सुनाई दिया—'भाभी, भाभी!' तब नीचे आकर बत्ती

जलाकर दरवाजा उसने खोल दिया। दरवाजा खुलते ही सुनीता और हरिप्रसन्न दोनोंने अपनेको आमने-सामने पाया। दोनोंके पास उस समय एक दूसरेसे पूछनेको मानों बहुत कुछ है, बहुत शका है, बहुत भेद है, बहुत विस्मय है, फिर भी दोनों कुछ देर एक दूसरेके समक्ष निश्शब्द गुम-सुम खड़े रह गए।

हरिप्रसन्न अँधेरा दीखता था। कुछ उसकी आकृतिसे व्यक्त न होता था। वह मानों मात्र इसपर कुण्ठित है कि उसे दरवाजा बन्द मिला, और कि यह अप्रकट न रह सका कि उसे रातमें जाना पड़ा था।

सुनीताके मनमें मानों पूछनेके लिए एक साथ कई सवाल, देनेके लिए कई भर्त्सनायें, कई उलहने, कई चेतावनियाँ उठीं और घुमड़कर रह गईं। वह बोली नहीं, गुम खड़ी रह गई। कुछ देर बाद चुपचाप हरिप्रसन्नके सामनेसे लौटकर चल दी।

उस समय हरिप्रसन्नने बढ़कर उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उनमें गिरकर कहा, "भाभी, मुझे क्षमा करो।"

सुनीता चौंककर एकदम पीछे हटी, घबराई-सी बोली, "हैं-हैं, य' क्या?" और पैरोंमेंसे उसे ऊपर उठाया।

जिस दक्षिण बाहुने हरिप्रसन्नके मस्तकको छूकर उसे धरतीमेंसे उठाया था, उसीको अपने दोनों हाथोंसे थामकर हरिप्रसन्नने दो बार चूमा, जैसे बालक हो। और तब वह उस हाथको उसी भाँति थामे हुए शनैः शनैः उठ आया। बोला, "मैं चला गया था भाभी, सो माफ करो। लेकिन तुम क्या सो नहीं गई थीं?"

मानों कुछ सुना न हो, कहीं और ही हो, ऐसी दूरस्थ वाणीमें सुनीताने कहा, "क्या बजा होगा?"

"चार होगा।"

"तुम सोये तो नहीं होगे न? जाओ सो लो।"

हरिप्रसन्न गद्‌गद कण्ठसे बोला, "भाभी!"

सुनीताने कहा, "लाओ, वह मुझे दो। मैं ठीक रख दूँगी।"

हरिप्रसन्न आश्चर्यसे सुनीताका मुँह देखता रह गया।

सुनीताने मानों बिना उसे देखे, झट बढ़कर जीनेको बन्द कर दिया। कहा, "लाओ, दो।"

क्या हरिप्रसन्न पूछे कि क्या? जो चीज़ माँगी जा रही है, उसे क्या किसी तरह भी ग़लत समझा जा सकता है? किन्तु हरिप्रसन्नने उस समय साहस

बाँधकर कहा, " वह तुम्हारे लायक चीज़ नहीं है, भाभी। उसे छूना भी बुरा है, और उसमें कार्तूस भी भरे हुए हैं। "

सुनीता स्थिर वाणीमें बोली, " लाओ, मैं सँभालकर रख दूँगी। कार्तूस निकाल लो। "

उस समय अपनी देरह परसे रिवॉल्वरको सामने उपस्थित करके बारी बारी पाँचों गोलियाँ उसमेंसे निकालकर देते हुए कहा, " लो। "

" कार्तूस ? "

" वे मेरे पास रहेंगे। "

" तुम्हारे पास ? अच्छी बात है। कुल कितने हैं ? "

हरिप्रसन्न चुप रहा।

सुनीताने कहा, " कितने थे ? "

" सोलह। "

" अब कितने हैं ? "

हरिप्रसन्नने बहुत ज़ोर लगाकर कहा, " भाभी, तुम जाकर सोओ। इन बातोंमें न पड़ो। "

सुनीताने फिर कहा, " कितने हैं ? "

" मैं नहीं जानता, होंगे कितने ही। "

कहकर हरिप्रसन्न चलनेको हुआ। सुनीताने निर्विरोध भावसे धीमे-से कहा, " अच्छी बात है। लेकिन जागना मत, सो जाना। अब फिर तो जाना नहीं है न। ज़ीनेमें ताला लगा दूँ ? "

" ताला ? "

" क्यों— "

" लगा दो। "

" अच्छा, मैं लगा दूँगी, तुम चलो, सोओ। ऊपर बिस्तर बिछा है। "

" ऊपर ? मैं नीचे ही सोऊँगा। "

" अच्छा। "

सहज भावसे ' अच्छा ' कहकर सुनीता चली गई। हरिप्रसन्न भी तब वहाँ नहीं ठहरा; स्टडी-रूममें आ गया।

हरिप्रसन्न क्या अब सोयेगा ? कैसे सोयेगा ? अपने पासके कार्तूसोंको मानों झटककर अपनेसे अलग करके फ़र्शके नीचे डाल दिया। तब मानों उस कमरेमें

वह देखना चाहने लगा अपने उसी चित्रको—जिसमें उसके जीकी भूख, जीकी जिज्ञासा, मानों निर्धूम स्थिर लौकी भाँति सतत जल रही है। देखा कि वह चित्र पलटकर रक्खा हुआ है। उसने उसे सीधा कर दिया, और तब उसे देखते देखते उसके भीतरसे क्या उठा कि उसकी आँखें भीग गईं, और कण्ठमें शब्द भर-भर आये—'ओ मायामायी।' मानों वह कहना चाहता है कि 'अरी, तू भाभी है? भाभी तू न हो, तो मैं, तो मैं—'

पर वह क्या जानता है कि—तो वह क्या करे?

३८

सुनीताको नींद ठीक तरह नहीं आई। रिवॉल्वर उसके सिरहाने रक्खा रहा है। रिवॉल्वरमें उसे भय न था, फिर भी आजकी रात उसे अजब रात मालूम होती थी। ज्यों त्यों थोड़ी-बहुत झपकी उसने ली और सवेरे तड़के ही उठ बैठी।

उस शान्त, सलोनी प्रभात बेलामें मानों वह खोजना-चाहने लगी—कहाँ है उसकी नैयाका खेवनहार? अरे, वह जीवनके आवर्त्तमें फँस रही है, धँसी जा रही है। अरे, उसे अकेली छोड़कर वह कहाँ जा बैठा है? उज्ज्वल होती आती हुई उस बेलामें वह चारों ओरके स्तब्ध शून्यमें सूनी निगाहसे देख रही है कि जैसे कुछ खो गया हो, जैसे खोज रही हो। पूँछ रही हो—अरे, कहाँ हो? कहाँ हो, मेरी पत राखनहार?

नींदसे उठकर कुछ क्षण तक तो वह भ्रमित-सी ही रही। मानों वह न अपनेको न आस-पासको पहचान पा रही है। पर जैसे जैसे अँधियारा छीजने लगा वैसे ही वैसे तथ्य उजला पड़कर उघर आने लगा। उस समय अवश-सी बनी वह कमरेमें टँगी हुई श्रीकान्तकी फोटोके सामने गई। देखती रही, देखती रही। फिर देखते देखते उसे उतार लिया और उसे सम्मुख धरकर बैठ रही।

आज, दिन फूटनेसे भी पहले, सब बिसार कर उसने यही काम किया, श्रीकान्तके चित्रके समक्ष होकर उसने अपने आत्मार्पणका स्मरण किया। समग्र रूपसे जिसके चरणोंमें वह अपनेको चढ़ा चुकी है, वह यहाँ नहीं भी है तो क्या? उसके लिए तो वही है, वही है। उसके लिए कहाँ वह नहीं है? वह तो अत्यन्त अभ्यतरमें सदा ही प्राप्त है।

अपने चित्तमें सम्पूर्ण रूपसे उसे धारण करके सुनीताने मानों अपने अणु-अणुमें शुचिता भर ली है। मानों अपनेको दे डालकर वह पूर्ण स्वतत्र हो गई।

अहंकारका बन्धन अब उसके लिए कहाँ है ? वह मुक्त है, क्योंकि विसर्जित है।

उसका अंग पुलकसे भर गया। उसका सब संकोच, सब संशय भाग गया। श्रीकान्तके सम्मुख बैठे बैठे जब उसकी मुँदी आँखें खुलीं, तब मानों सामने चहुँओर उसे प्रीति ही प्रीति दीखी। सब प्रभुमय लगा।

उसके बाद परम शान्त चित्तसे वह नित्य कर्ममें लग गई।

दिन जब काफी निकल आया तब उसने सोचा कि हरिप्रसन्न जग गए होंगे। वह रिवॉल्वर उठाकर हरिप्रसन्नके पास चली। रिवॉल्वर उसे दे देगी, कहेगी, "लो, तुम्हारी चीज यह है। तुम रात आरामसे तो सोए ?"

लेकिन पहुँची तब देखा, नीचे फर्शपर हरिप्रसन्न तो बेखबर सो रहा है। कार्तूस वहीं फैले पड़े हैं। चुपचाप उसने कार्तूसोंको बीना और उन्हें सँभालकर ठीक जगह रख दिया। वहीं रिवॉल्वर भी रख दिया। बहुत धीमे धीमे, ऐसे कि आहटसे हरी जगे नहीं, कमरेमें जहाँ तहाँ फैली और और भी चीज़ोंको सँभालकर रख दिया।

हरिप्रसन्न बेखबर सोता रहा। क्या अब उसके चेहरेपर है ? कुछ भी तो नहीं। वेदना उस चेहरेपर कहाँ है ? आकाक्षा भी कहाँ है ? कोई पौरुष भी वहाँ नहीं दीखता है। जैसे असहाय बालक हो, वैसा ही वह है। मानवका दर्प, दम्भ एक दम वहाँ नहीं है। सोते समय, जब अहंकार भी सोया है, मानव-प्राणी कैसा निरीह, दयनीय, कैसा निर्दोष प्रतीत होता है ?

सुनीताने पास ही एक ओर रक्खी हुई चादरको लिया, तह किया और हरीके सिरहाने बैठकर उसका सिर उठाकर तकिएकी जगह रखना चाहने लगी। हरिप्रसन्न यों ही बेखबर सोता रहा।

वह सोता रहा, पर जग भी रहा था। सच पूछो, तो वह जग-नींदीमें पडा था। भाभीके आनेकी आहटपर वह बेखबर बिल्कुल न था, फिर भी वह यह बताना नहीं चाहता था कि वह जग रहा है। बतानेमें फायदा क्या ? सो जब सिर उठाकर चादरका तकिया उसके नीचे लगाया गया, तब भी वह चैतन्य नहीं हो बैठा। और लेटे लेटे नशे-सेमें सोचने लगा कि क्या कहीं ऐसा भी होनेवाला है कि भाभीकी जाँघका तकिया उसे मिले। मानों यह कल्पना उसे असह्य हुई और उसने करवट ले ली।

सुनीताके मनमें इस व्यक्तिके लिए, नहीं कह सकते, प्रेम नहीं है। वह सोचती है कि रात इन्हें कहाँ सोना मिला होगा, तभी अब तक सो रहे हैं। ऐसे लापरवाह

यह क्यों हैं ? यह ठीक नहीं है । इस तरह पहलेसे कहीं जीवनकी शक्ति भल बढती है ? पत्थर बढती होगी ! मैं तो समझती हूँ उल्टे कुछ घट ही सकती है । इसी बहकमें सिरहाने बैठी बैठी वह अनायास बोल उठी, "हरी बाबू !"

हरी चुप ।

"हरी बाबू, उठिएगा नहीं ? देखिए, कितना दिन चढ़ आया है ।"

हरीने और करवट ले ली और चुप ।

सुनीता क्या यह चाहती थी कि हरिकी यह दुष्प्राप्य नींद टूटे ? फिर भी अपनी गोदके बिल्कुल पास ही पड़े हुए हरिप्रसन्नके चेहरेको देखते देखते क्या सूझा कि दोनों हाथोंसे धीमे धीमे उस सिरको हिलाकर सुनीताने कहा, "उठिए उठिए, सबेरा कबका हो गया है ।"

अब तो जग न पडनेका अवकाश ही न रहा । सो हरिने चौंककर आँख खोली, जैसे निंदासा हो, और दोनों हाथोंसे सुनीताकी दाहिनी बाँहको खींचकर उस हाथको अपनी क़नपटीके नीचे ले लिया ।

सुनीताका धड इस भाँति, लेटे हुए हरिके चेहरेके बिल्कुल ऊपर आ गया । सुनीता हल्की मुसकराई, कहा, "उठिए उठिए ।"

ऊपर भाभीको देखते देखते हरिने कहा, "भाभी, जाओ मत । और मुझे उठने भी मत दो, सोया ही रहने दो । दो घडी तो भाभी, ऐसे सोने दो । मालूम तो है, मैं रात कब सोया । सो अब आँख लगी है भाभी, तो क्यों जगाती हो ?"

"अजी उठिए भी । आपका रिवॉल्वर देखिए, मैंने वह रख दिया है ।"

हरिप्रसन्नने कहा, 'भाभी !' और कनपटीके नीचे रखे हुए भाभीके हाथको दबाया ।

सुनीता अब भी मुसकराई । उसने हाथ खींचा हो, ऐसा नहीं मालूम हुआ । कहा, "आप उठते नहीं हैं, तो सोते रहिए । देखिए न, दुनिया जग गई, आप खुमारीमें ही हैं । उठिए, हाथ-मुँह धोइए । छोड़िए, मैं नाश्ता लाऊँ ।"

हरिने हाथ छोड दिया, लेकिन उसने भाभीकी आँखोंमें देखते हुए कहा, "मुझे थोडी देर और सोने दो, भाभी । तुम जा सकती हो ।"

सुनीताने उठते हुए कहा, "अच्छी बात है, मैं जाती हूँ । लेकिन चाय आपकी बेकाम हो जायगी ।"

"हो जाने दो, मुझे नींद आ रही है ।" और हरिप्रसन्नने करवट लेकर आँख मूँद ली । मानों जो पाया है, अपनी भी आँखोंकी ओटमें, उसे चुपचाप मूँदे पडा रहेगा ।

चलते चलते सुनीताने कहा, "मैं पूछना चाहती थी कि क्या रातको मुझे जरूर चलना होगा ?"

हरिप्रसन्न चुप ही रहा। इस विषयमें उसके ही अपने मनमे दुविधा उपज पडी है। ऐसी स्नेहमयी गृहिणी नारीको वहाँ बियाबान खोहमें, लहू चाहनेवाले हथियारोंकी झन्नाहटके बीचमें, कर्म-कठोर युवकोंके नेतृत्वके लिए जो मैं खींच ले जाना चाहता हूँ, वह क्या विडम्बना नहीं है ? क्या यह सबकी आँखोंसे दूर, सुरक्षणीय निधिकी भाँति दुबकी ही रहने और अपने ही वृन्तपर एकाकी प्रस्फुटित होने देनेकी चीज नहीं है ? क्यों वह जग-जाहिर हो ? किन्तु, वह नहीं जानता। पुरुषसे अधिक क्या उस स्थानके लिए आज स्त्री ही दरकार नहीं है ?—वह शीर्षस्थान जहाँसे स्नेहकी वर्षा हो, स्फूर्तिका झरना झरे। हाँ, जो युवकोंमें मदकी तृषा बढ़ाए। अरे, क्या इसीसे वहाँके लिए स्त्री अधिक उपयुक्त नहीं है ?

और वह, चुप, आँख मूँदे पड़ा रहा।

"सोच देखिएगा, हरि बाबू। कहेंगे, तो चलूँगी। क्यों न चलूँगी ? आपका कहा टालूँगी नहीं। लेकिन,—क्या यह ज़रूरी है ?...खैर, अभी सोइए, फिर आऊँगी।"

हरिप्रसन्न अपनेको कोसता हुआ चुप ही पड़ा रहा।

३९

उस रोज हरिप्रसन्नका जी हलका होनेमें नहीं आया। उसमें जाने क्या आशका, क्या आकाक्षा भर-सी आने लगी ! मानों जी उसका उसके क़ाबूसे बाहर हो जाना चाहता है।

उसको सुनीतामें बहुत विश्वास है। सुनीता टूटेगी नहीं, पीछे हटेगी नहीं, यह वह खूब जानता है। यह भी जानता है कि सुनीतासे जो कुछ भी वह आशा रखे, और जितना कुछ भी वह माँगे, उसके प्रतिदानमें सुनीता चूकेगी नहीं। श्रीकान्तने तो सुनीताके आगेसे अपनेको पहले ही ऋण कर लिया है। किन्तु श्रीकान्त नहीं, तब उसका वह ऋण-चिह्न भी सुनीताके मार्गमें रुकावट बनकर नहीं खडा रहेगा, यह हरिप्रसन्नको भरोसा है। सुनीता तो अपनी मालिक खुद ही है। वह अपने सञ्चालनके लिए किसीकी अपेक्षाकाक्षी नहीं है।

सुनीताने जब समय पाकर फिर पूछा कि हरिप्रसन्न क्यों उसे अपने गृहिणी-धर्ममें ही नियोजित न रहने दे ? क्यों वह उसे यशस्विनी वीरागना बनी हुई

देखनेकी हठ करे ? तब हरिप्रसन्नने अपनी स्थिर दृष्टि उसके चेहरेपर गड़ाकर सुनीतासे कहा, "देखो भाभी, तुम नहीं जाना चाहती हो तो मत जाओ। लेकिन यह झूठ है कि तुम डरती हो। यह मैं नहीं मानूँगा। यह भी झूठ है कि तुम समर्थ नहीं हो। तब मुझे जाननेको शेष रहता है कि फिर क्या कारण है, जो तुम उस मार्गसे बचती हो ? और सुनो, मार्ग वही मोक्षका है।"

"मैं बचती नहीं हूँ—"

"और तुम बचो भी क्यों ? स्त्री क्या इसलिए स्त्री है कि सङ्कट जब पुरुष अपने सिर ले, तब सुविधा सब स्त्रीके भागमें पड़े ? तुम जानती हो भाभी, ऐसा नहीं है। तुम यह भी जानती हो कि ऐसा कहना, ऐसा मानना स्त्रीका अपमान करना है। क्या मैं कहूँ कि मौतसे जूझनेकी हौंस पुरुष तुमसे, स्त्रीसे लेगा, और तुमको देनी होगी। तुम इकार नहीं कर सकोगी। तुमसे यदि वह यह नहीं पायेगा, कच्चे आँसू ही यदि पायेगा, तो वह इसको नहीं सह सकेगा। इस भाँति वह स्त्रीको नहीं सह सकेगा। तुम यदि पुरुषकी अधीश्वरी नहीं हो सकती, तो पुरुष लाचार होगा कि तुमको अपनी दासी बनाए। दासी भी नहीं, पैरकी जूती बनाए। लेकिन तुम उसकी अधीश्वरी बननेके अधिकारसे भागनेवाली हो ही कौन ? यह मेरा हक है कि मैं तुमसे कहूँ कि तुम मुझे स्फूर्त्ति दो, मुझे स्नेह दो। नहीं ? तो हट जाओ मेरे सामनेसे—यह हर पुरुष एक स्त्रीसे कह सकता है।

'हट जाओ मेरे सामनेसे'—यह इस लीन भावसे कहा, कि सुनकर हरिप्रसन्न अपने ही पर विस्मित हो आया। इस कुठापर सुनीता मुसकराते-मुसकराते रुक पड़ी। बोली—तो मैं पूछूँ, कल रात तुम कहाँ गये थे ?

"यही बन्दोबस्त करने गया था कि आज रात दलके सब लोग इकट्ठे हों। उन्हें मैंने कहा है कि आज रानी माता दर्शन देंगी। क्या मुझे उन्हें जाकर यह सुनाना होगा कि वह रानी माता नहीं हैं, वह पतिव्रता गृहस्थिन हैं ?"

'पतिव्रता गृहस्थिन'में ध्वनित हो रहे व्यंगको सुनीताने अपने-से छूने भी नहीं दिया। उसने हँसकर कहा, "हरी बाबू, मैं देवी माता कैसी हूँ, यह मैं क्या जानूँ ? यह जानती हूँ कि चौका-बासनका धन्धा कर लेती हूँ—सो तुम्हें रोटी बनाकर खिला देती हूँ। मेरा यह गृहस्थिनका रूप क्या कभी मुझसे अलग कर पाओगे ?"

"छोड़ो छोड़ो, भाभी, नियतिको कौन जानता है ? भारतको आजाद होना है, विधाता भी इसे नहीं रोक सकते। तब क्या गृहस्थ और गृहस्थिनियोंके बल पर

ही वह आजादी आयेगी ?' उन्हींके भरोसे भविष्य वर्तमानके तल तक उतरेगा ? नहीं, कुछ लोग घरकी मर्यादा नाँघकर आगे आएँगे, वे जानको हथेलीपर लेंगे, लज्जाको परे करेंगे। वे नहीं रहेंगे घरमें, वे रहेंगे विश्वमें। सुखको छोड़, वह विपतमें बढ़ेंगे। मैं जानता हूँ कि ऐसा होगा, ऐसे लोग निकलेंगे। क्योंकि मैं जानता हूँ, हिन्दुस्तान आजाद होगा। करें दुनियाके लोग सचय और सग्रह, किन्तु जिनपर भविष्यकी टेक है, वे तो प्रति क्षण अपना दान ही करते चलेंगे। यह तो भाभी, सिरका सौदा है। जो जल सकें, आएँ। जो झुलससे बचना चाहें, परे रहें। अब तुम—"

मन्त्र-मुग्ध-सी बनी सुनीताने कहा, "मै नहीं बचूँगी।"

उसीपर निगाह जमाये रखकर हरिप्रसन्न बोला, "पर श्रीकान्त—"

"मै चलूँगी।"

"पीछेका सब तोड़कर ? अपनी सब नाव जलाकर ?"

सुनीता मानो चौंक पड़ी।

"अभी तो यों ही चलना है। लेकिन वहाँ तुम्हारे लिए काम होगा। वह काम तुम्हे सब-की-सबको चाहेगा। कहो, अपना सब आपा उसे दोगी ? गृहस्थी छोड़नेकी बात मैं नहीं कहता, आज वह नहीं है, पर कल वह आए, तो छोड़ोगी ? अशेष रूपमें वह राष्ट्र-कर्म तुम्हें माँगेगा। प्राण तुम्हारे उसीके होकर रहे, शरीर चाहे गृहस्थीका रह सकता है। बोलो, करोगी ?"

सुनीता विस्मित-सी खड़ी रह गई। मानों शनैः शनैः अपने ऊपरसे उसका अधिकार खोया जा रहा है। उसने सम्भ्रमसे कहा, "तो क्या चलकर सवेरे तक यहाँ नहीं आयेंगे ?"

"चाहोगी तो आयेंगे। सामर्थ्य हो, तो नहीं भी आयेंगे।"

मानों अबला ही हो, इस भाँति सुनीताने कहा, "मै नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी।"

भौंहे सिकोड़कर व्यग्यपूर्ण उपेक्षाके साथ हरिप्रसन्नने कहा, "मत ही जाओ, यही श्रेष्ठ है। इसीके लिए तुम हो। मै तुममें भूलता था। तुम वह नहीं हो। यहीं रहो, सुखसे रहो।"

सुनीता मानों अपने ही प्रति अश्रद्धासे भर आने लगी। अपनेमे वह जैसे सिकुड उठी। किन्तु फिर भी उसने कहा, "मैं नहीं जा सकूँगी, नहीं जा सकूँगी।"

शब्दोमे कठिन तिरस्कार भरकर हरिप्रसन्न बोला, "मत जाओ। राष्ट्र इसके

लिए रुका न रहेगा, बन्दी न रहेगा। मैं तो आज चला ही जाऊँगा । और फिर नहीं लौटूँगा।"

सुनीता यह सुनकर दीन बन आई—" कहाँ रहेंगे ? "

" दुनिया बहुत बड़ी है। कहीं रह लूँगा।"

" अभी मत जायें। उनको आ जाने दें।"

'उन'—यह 'उन' कौन है जिसका हमारे बीचमेंसे दखल उठाया ही नहीं जा सकता ? मानो इस 'उन' की बातपर उसने अपना सिर धुन लेना चाहा। उसने कहा, " क्यों मुझे रुकना होगा, ज़रा सुनूँ। क्या उनके खातिर ?"

किन्तु सुनीताके लिए तो वह 'उन' ही सब कुछ है। अपने 'उन' के बिना तो उसका एक क़दम भी इधर उधर कैसे जा सकता है ? उसने अपने 'उन' ही को अपने हृदयके बीचमें ज़ोरसे खींचकर आग्रही भावसे जल्दी जल्दी कहा. " आप क्यों जाते हैं ? आप मत जावें। मैं चलूँगी साथ। मैं इकार नहीं करती। मैं डरती नहीं हूँ। सवेरे तक वापिस आ जाऊँ, तो चलूँगी। आप कहिए, मैं सवेरे तक वापिस आजाऊँगी ? मैं उस लायक नहीं हूँ। मैं राह्को नहीं जानती, लेकिन फिर भी मैं चलूँगी। जहाँ कहोगे, चलूँगी। लेकिन सवेरे मुझे वापिस आ जाना चाहिए। क्यों नहीं कहते कि सवेरे तक मैं आ जाऊँगी, क्योंकि तब जहाँ कहोगे, वहीं मैं चल सकती हूँ। मैं वचन दे चुकी हूँ, वचनसे फिरूँगी नहीं।"

हरिने सुनीताका यह रूप अभी तक कभी नहीं देखा। उसे वह क्या समझेगा ? उसने सहसा यही जाना कि उस सुनीताकी हालत ऐसी हो गई है कि उसे छुआ कि वह चुरमुर हो जायगी। लेकिन किसको लेकर यह अवस्था हो पड़ी है, इसका अनुमान वह न कर सका।

" हाँ क्यों नहीं ", उसने कहा, " सवेरे तक चाहोगी तो जरूर आ सकोगी। तो चलोगी ? "

" चलूँगी। लेकिन आप नहीं जायेंगे न ? "

" नहीं भी जाऊँगा। "

इसके बाद सुनीता वहाँ ज्यादा देर नहीं ठहरी। अपने कमरेमें आकर उसने श्रीकान्तके चित्रकी सहायतासे अपनेको विश्वाससे भरपूर भरा। विश्वाससे भरी समदरके जलपर वह उतराती ही रहे। उस विश्वासमें कहीं छिद्र न रहे कि जिसमेंसे पानी भर पड़े। श्रीकान्तका आदेश तो उसके पत्रद्वारा उसे प्राप्त हुआ ही है। फिर उसके पालनमें हिचक कैसी ? उसका मूल्य चुकानेमें संकोच कैसा ?

हरिप्रसन्न जहाँ ले जाना चाहता है वहाँ ही ले जाय। अपनी श्रद्धाको साथ लेकर वह तो अभय बन गई है, फिर कहाँ रह गया है उसके लिए भयका स्थल?

और वह पत्नी है, फिर भी नारी है। कौन अपने आपमें पूर्ण है? कौन विमुखतामें, नकारमें पूर्ण होना चाहता है? और उसकी उम्र अभी है भी कितनी? उसमें क्या जगत्के प्रति उत्सुकता सर्वथा शान्त हो गई है? वह कब वैचित्र्यके प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्यके प्रति उन्मुख नहीं रही है? वह क्या हाड़-मासकी नहीं है? वह पत्नी है, पर नारी है। वह पतिमें ही नहीं, स्वयं भी है। तभी तो यह आग्रहपूर्वक श्रीकान्तके स्मरण और प्रतिस्मरणकी उसमें अदम्य, हठीली चेष्टा है। वह जिसका निमंत्रण हरिप्रसन्नके द्वारा उसे मिल रहा है, क्या रहस्यमय नहीं है?—इतनेहीसे नारी-हृदय उस ओर बिना खिंचे कैसे रहे? स्वयं यह हरिप्रसन्न ही क्या रहस्यमय नहीं है?—तब उस भेदको भी क्यों न नारी-हृदय घुसकर पा लेना चाहे?

इन सब निमंत्रणोंके उत्तरमें स्वीकृति देती हुई वह उनकी ओर चल ही पड़ेगी। जब नैयाकी कील उसने सम्हाल ली है, तब वह कहीं भी जाय, भटकेगी नहीं। निरंतर जागरूक अचूक घड़ीका काँटा जब उसके अभ्यंतरमें है, सतत स्नेहपूरित एकोन्मुखी दीप-शिखा जब उसने अपने हृदयके भीतर जला ली है तब क्यों उसे शंका हो? किसकी आशंका हो? तब क्यों वह साथ निषेध लिये फिरे? इससे वह क्यों न जायगी? ज़रूर जायगी।

और, परिचयके पहले ही रोज़से नित्य शामको हरिप्रसन्नसे पढ़ने आजाया करती है, सत्या। बड़ी भली लड़कीकी भाँति वह पढ़ती है। हरि भी सधे गुरुकी भाँति उसे पढ़ाता है। सत्याने इस गुरुके सामने कभी कोई चंचलता नहीं की। मानो शरारत बेचारी जानती ही नहीं। आती है, पढ़ जाती है, चली जाती है। बस बेचारी और किसी बातसे मतलब नहीं रखती।

पर अठारह बरसकी लड़कीको कभी आप अनजानं मत समझ लीजिएगा। नहीं तो ख़तरा खाइएगा। उसकी आँखें जो देखनेको है, सो तो देखती ही हैं; पर उसका मन, जो नहीं है, वह भी उस देखे हुएमें पढ़ लेता है। पर वह खट-मिट्ठा मन सब कुछ भीतर ही सँजोए रखता है, बखेरता नहीं।

सत्याको भली तो कह लीजिए, पर किसी और भरोसे आप मत रहिएगा। इस घरमें हरिप्रसन्नके आकर रहनेको क्या सत्या निरी-निरी घटना, मात्र फ़ैक्ट ही मानकर रह ले? सो ऐसी निर्बोध वह नहीं है। जी हाँ, वह उसमें अर्थ भी देखती

है। यही क्यों, इस मामलेमे कुछ अयथार्थ, कुछ सदिग्धकी भी गध उसे आती है।

आज सत्या देखती है कि उसके मास्टर साधारणसे कुछ अधिक मन्द, कुछ अधिक अनमने हैं। पढ़नेको वह पढती रही, पर मानों अपने मास्टरको जाँचती भी रही। उसे अचरज हुआ कि यह व्यक्ति किस चीज़को लेकर इस भाँति आत्मग्रस्त है कि ठठोलीके लिए भी मौका नहीं निकालता है? मौका मिलता है तब भी उसे नहीं पहिचानता है। सत्याने कई बार शिष्यत्वकी बँधी लकीरसे भटक हटकर परीक्षणके लिए ऐसे प्रसग इस मास्टरके सामने प्रस्तुत किये हैं कि पढ़ाई कुछ रसीली भी हो सकती थी। लेकिन यह आदमी सदा परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता रहा है। और उससे भी शोचनीय बात यह कि उसे पता ही नहीं है कि जीवनकी ऐसी महत्त्वपूर्ण परीक्षामें यह एकदम चौपट उतरा है, एकदम फेल। सत्या मास्टरसे पढती रही, लेकिन उससे अधिक मास्टरको पढ़ती रही। थोड़ी देर बाद उसने कहा, "तो अब जाने दीजिए। कलसे ही आपकी तबीयत ठीक नहीं मालूम होती है।"

हरिप्रसन्न—नहीं नहीं, क्यों?

सच कहें तो हरिप्रसन्न इस पढाईके समय सावधान रहता है। सत्या अठारह वर्षकी तो है ही, तिसपर ऐसी है कि किसीको किसी भाँति चौंकाती नहीं, धीरे धीरे करके ही उसका सौन्दर्य दूसरेके मनमें उतरकर घुलता जाता है। जो चौंकाये वह सौन्दर्य विशेष गहरा नहीं होता है। वह तो अक्सर उतर जानेवाला, घुल रहनेवाला पदार्थ है। पर जो शनैः शनैः मनके भीतर मनके अनजानमें ही एक एक पग गहरा हो बैठता जाता है, जिसके विरुद्ध सन्नद्ध होनेका ख्याल भी नहीं उठने पाता, उस सौन्दर्यका बचाव तनिक कठिन होता है। कभी अपनी सज्जासे सत्याने किसीको चौंकाया नहीं है। सादी धोती, सीधी माँग, अनबनी बोली, अकृत्रिम व्यवहार—बडी उमर तक इन्हींको यों ही लिए वह बढ़ती रही है। साज-सिंगार भरकर वह किसीको उद्विग्न नहीं बनाती। पर इनके बिना वह क्या करती है, सो शायद उसे पता नहीं है। वह तो यों जैसे एकदम पराए जीमें बस पड़नेको ही हो जाती है।

जब पहली बार सत्या दीखी, तभीसे हरिप्रसन्न नीची दृष्टि रखकर, सावधानतापूर्वक चलनेकी आवश्यकता अनुभव करने लगा। कुछ सत्याको वह बालक भी समझता है। किन्तु उसे नहीं मालूम कि अठारह वर्षकी कन्या और बीस वर्षका

बालक दोनों चाहे बालक हों, (और बालक हैं) पर बालक समझे जाना वे सहन नहीं कर सकते। बालक मानकर उनसे बरतो, इससे बड़ी चोट उनके हृदयको शायद दूसरी नहीं दी जी सकती।

यही भग्न मानकी कलख हरिप्रसन्नने अनजानमें अपने प्रति सत्याके मनके भीतर पैदा कर दी है। सो मौक़ा आ जाय तो सत्या हरिबाबूको ऐसा व्यर्थ करे, ऐसा छकाए, कि क्या हरिबाबू जानते होंगे। लेकिन—खैर...सो, वह सदा बड़ी भली लड़कीकी भाँति इनसे अपनी पढ़ाई पढ़ती रही है।

सत्याने कहा, " रहने दीजिए। बाकी सबक कल सही।"

एकाएक हरिप्रसन्नने आँख ऊपरको उठाकर कहा, " कल ?"

तब सत्या अचूक समझ गई कि कुछ बात जरूर है। बोली, " क्यों, कल कहीं जाइएगा ?"

पर्याप्तसे मानो अधिक विश्वस्त भावसे हरिप्रसन्न सत्याको देखते हुए बोला, " नहीं तो—"

" कहीं न जाइएगा ?"

हरिप्रसन्नने कहा, " सत्या, पढ़ती क्यों नहीं ? क्या मैंने तुमसे कहा है कि मैं जा रहा हूँ ?"

उस समय सत्याने अपने मनमें स्पष्ट जान लिया कि वह पढ़ेगी नहीं, और अभी जीजीके पास जाएगी। जो है, अभी सब मालूम किये लेती है। उसने कहा, " मुझे घरके लिए पाठ बता दीजिए, मैं घर पढ़ लाऊँगी। आज मैं भी छुट्टी चाहती हूँ।"

हरिने कहा, " अच्छा, जाओ। शेक्सपियरपर डॉक्टर जॉन्सनकी समालोचना पढ़ो। पढ़ी है कि नहीं ? पढ़नेकी चीज़ है।"

" नहीं पढ़ी।"

" ज़रूर पढ़ो। तुम्हारे पास है ?"

" नहीं है।"

" नहीं है ? देखो उस अलमारीमें देखो।"

सत्या धीमे-से अपने स्थानसे उठी। मानों वह तो आज्ञाकारिणी ही है, और कुछ भी नहीं। हरिप्रसन्नने उसकी ओर अपनी उठी हुई आँखोंको सावधान होकर नीचे कर लिया।

सत्याने अलमारी खोली। वहाँ उसने देखा, रिवॉल्वर। देखकर सहमी-सी रह

गई, पर बोली नहीं। तब कुछ देर वहाँ किताब टटोलनेका-सा बहाना कर, वह अपने स्थानपर लौटकर आगई। ”

हरिप्रसन्नने पूछा, “ मिली ? ”

“ नहीं मिली। ”

“ कैसे नहीं मिली ? वहीं तो रक्खी है। ”

और हरिप्रसन्न स्वय उठकर उस ओर बढा। अल्मारी खोलनेपर उसे भी पहली चीज रिवॉल्वर ही निगाहमें पड़ी। वह इसके लिए सर्वथा अनुद्यत था। उसने जल्दीमें फौरन अलमारीके किवाड़ बन्द किये और लौट आकर कहा, “खैर, किताब फिर लेना। मैंने शायद कहीं और रख दी है। अभी जाओ। ”

सत्या बस्ता-सा संभालकर चुपचाप उठकर चल पड़ी। किन्तु दूर नहीं गई थी कि हरिप्रसन्नने आवाज दी, “ सत्या ! सत्या ! सुनो। ”

किञ्चित् अनुनीत स्वरमें हरिप्रसन्नने कहा, “ तुमने शायद एक और चीज अल्मारीमें देखी होगी, जिसे रिवॉल्वर कहते हैं। सत्या, किसीसे उसकी बात कहना नहीं। सत्या, कैसी अच्छी हो ! ”

“ वह किनका है ? आपका है ? ”

“ हाँ, मेरा है। ”

“ जानती थी, दौलतमद लोग अपने और अपनी दौलतके बचावके लिए उसे रक्खा करते हैं। मैं समझती थी कि आप धन-दौलतसे विमुख हैं। अब जानी कि बात यह नहीं है। ”

“ सत्या, तुम समझोगी नहीं। हम लोगोंको यह रखना ही पड़ता है। ”

इस बातपर कि सत्या समझेगी नहीं, उसका जी कटकर रह गया, पर चुप रही, बोली नहीं।

हरिप्रसन्नने कहा, “ सत्या, देखो किसीसे कहना नहीं। हम लोगोंके पास खोनेको क्या है ? यह जान ही है, जिसकी ऑकने योग्य क़ीमत नहीं है। लेकिन इसका पता चलेगा, तो तुम लोगोंका बहुत नुकसान हो सकता है। ”

थोडी देर बाद चुप खड़ी खड़ी सत्याने अकस्मात् कहा, “ जीजीको इसका पता है ? ”

पराजित वाणीमें हरिप्रसन्नने कहा, “ पता है, लेकिन सत्या—। ”

“ जीजाजीको पता है ? ”

“ है तो। ”

इसके बाद थोड़ी देर दोनो चुप रहे। फिर बालककी-सी वाणीमें सत्याने कहा, "यह तो मारनेके काम आता है न? तब आप इसे क्यों रखते हैं?"

"यह क्या जानोगी, सत्या, रहने दो। तुम अभी पढ़ती हो।"

सत्याने सोचा कि वह तो नहीं जानेगी, लेकिन जीजी तो सब जाननेकी पात्र हैं न? वह नीचेके होठको तनिक चाबकर रह गई, बोली नहीं।

थोड़ी देर बाद उसने कहा, "जाती हूँ।" और वह चली गई।

आज इस लड़की सत्याके मनमें हठात् कुछ अँधेरा-सा घर किये जा रहा है। उसने सोचा कि आज मैं यहाँ ही क्यों न रह जाऊँ? जीजाजी जाने कब आयेंगे? उनके पीछे यहाँ क्या कुछ अनिष्ट होने दिया जाय? जाने किस अनिष्टकी तैयारीकी गन्ध उसे यहाँ आ रही है।

जीजीके पास सत्या पहुँची, तब उसकी जीजीने आकुलभावसे उसे पकड़ लिया। कहा, "सत्या, आ। मैं तुझे पुकारने ही वाली थी।"

सत्याने जीजीकी आकुलताको पहचाना, बोली, "जीजी, तड़के सवेरे ही कल जमनाजी चलो न। मैं रात यहीं रह जाती हूँ। सवेरे ही उठकर चल दें।"

भयभीत-सी बना जीजीने कहा, "कल? सवेरे अगले सोमवारको चलेंगे।"

"नहीं जीजी, कल चलो। मैं अम्माजीसे कह आई हूँ।"

"अम्माजीसे क्या कह आई है?"

"कह तो नहीं आई, पर पूँछ आई हूँ कि रातको मैं जीजीके यहाँ रह जाऊँ?"

उस समय एकाएक सुनीता गम्भीर हो आई, कहा, "सुन, सत्या! यहाँ आ।" और फिर सत्याको अपने पास बैठाकर सुनीताने स्थिरतापूर्वक कहा, "सत्या, तू आज यहाँ क्या अकेली रहेगी?"

सत्या प्रश्न-सूचक भावसे सुनीताकी ओर देखती रह गई।

सुनीताने कहा, "मुझे आज रातको जाना है।"

"कहाँ जाना है?"

"सिनेमा जाना है—सेकिण्ड 'शो' में। पहले 'शो' तक ठीक तरह काम नहीं निबटपाता।"

"मैं भी चलूँगी।"

"तू चलेगी, सेकिण्ड 'शो' में? अम्माजी क्या कहेंगी?"

"क्यों कुछ कहेंगी, जीजी? तुम्हारे साथ ही तो जाऊँगी न।"

"सत्या?"

कहकर सुनीता करुण भावसे सत्याको देख उठी। फिर एक साथ उसके मस्तकको अपनी छातीमें लेकर बोली—" सत्या, मै सिनेमा नहीं जा रही हूँ, और कहीं जा रही हूँ। "

सत्या जीजीके उस स्नेहके घोंसलेमें कुछ क्षण कृतज्ञ-भावसे चिपकी रही। अनन्तर सहानुभूतिपूर्ण उच्छ्वासमे बोली, " जीजी, कहाँ जा रही हो? "

सत्याके देखते देखते सुनीताकी आखोंमें एक एक मोती बन आया। उसने कहा, " सत्या, मेरी बहन, तू रहने दे। मैं क्या बताऊँ, कहाँ जा रही हूँ। "

सत्यामे जीजीके प्रति करुण भाव उठा, पर साथ ही सन्देहसे भी वह भर आई। पूछा, " वह भी जा रहे हैं? "

" उन्हींके साथ मैं रातको जा रही हूँ, सत्या। कहाँ? यह मत पूछे। वह मैं भी ठीक नहीं जानती। "

उसी सन्दिग्ध स्वरमें सत्याने पूछा, " क्या कहती हो, जीजी, जा रही हो?—आओगी? कब आओगी? "

आँखें भींगीं थीं, फिर भी हँसकर सुनीताने कहा, " दुर, पगली! सवेरे तक आ जाऊँगी। तू पगली मत बन, सत्या। "

सत्या कुछ भी न समझ सकी थी। समझे क्या? उसका मन अपने अनुपस्थित जीजाजीके लिए घनी करुणासे भर आया। अपनी जीजीके प्रति वह स्निग्ध किन्तु सन्दिग्ध दृष्टिसे देखती रह गई।

सुनीताने कहा, " मै फिर कहती हूँ, सत्या! पागल मत बनना। कहीं जो तू इस बातको कहती फिरे। "

" जीजी! "

" दुर, पगली। "

"जीजी! मैंने अलमारीमे रिवॉल्वर देखा है। तुम उसके बारेमे जानती हो?"

सुनीता इस अपनी बहन सत्याको विस्फारित नयनोंसे देखती रह गई। बोल उठी—सत्या!

सत्याने कहा, " जीजी, मुझे सारी बात समझाकर कहो। मेरा चित्त मुझे बड़ा दुःख दे रहा है। "

सुनीताने कहा, " सारी बात मैं ही क्या जानती हूँ, सत्या? तैने क्रान्तिकारी शब्द सुना होगा। वह—शब्द ही तो मैं जानती हूँ। उससे आगे मैं भी क्या जानती हूँ! उन्हीं लोगोंके बीचमें आज मुझे ले जानेको वह कहते हैं। "

" कौन ? मास्टरजी ? "

" हाँ । "

सत्या बोली, " जीजी ! "

सुनीताने कहा, " इसे अपने तक ही रखना । "

" अकेली जाओगी ? कहाँ जाओगी, जंगलमें ? कितनी दूर, कुछ पता है ? "

" कुछ भी नहीं पता । "

" फिर भी जाओगी ? "

" हाँ, सत्या, फिर भी जाऊँगी । "

इस बार जीजीकी ओर देखते देखते सत्याने उनका मस्तक अपने वक्षमे खींच लिया और वह मानो जीजीके उस झुके हुए मस्तकपर आँसू गिराना चाहने लगी ।

४०

सत्याकी तबीयतका भला कुछ ठिकाना है । कभी वह अपने पढ़नेकी किताबोंके साथ गुम-सुम रहती है । कभी ऐसी चहकती है कि घर सिरपर उठा ले । तब जो न करे सो थोड़ा । उस समय घरके पले तोतोंके साथ ही घटों खेलती रहेगी, या सामानको तित्तर-बित्तर फैलाकर अपने चारों तरफ जगड्वाल रच लेगी, या अम्माजीसे ही बक-झक करेगी, नहीं तो कुछ ले-दे करने बाबूजीके पास ही पहुँच जायगी । उसके मनका भरोसा नहीं है ।

जीजीके यहाँसे लौटनेपर कुछ विचित्र-सा ही हाल उसका देखनेमें आया । बेबात भी हँसती है, और अतिशय प्रसन्न मालूम होती है । उसने बाबूजीसे कहा है कि आज वह बग्घीमें कहीं घूमने जरूर जायगी । और सहेलियोंसे भी मिलना है । भाईसे कहा है, 'क्यों भैया चलोगे न ?' 'सिनेमा ?' 'नहीं आज सिनेमा नहीं, बाहर कहीं खुली हवामे चलें ।' दूसरी बड़ी बहिनसे कहा है, 'क्यों जीजी, चलोगी न ?' वह बड़ी बहिन (माधवी) सुनकर अचरजमें रह गई है । माधवीको भला कभी सत्या किसी बातके लिए पूछती है ? माधवी पढ़ी नहीं है, विधवा है, निष्पुत्रा है, विक्षिप्त-सी है । सो अँग्रेजीके अखबार-किताब पढ़नेवाली यह सत्या, जो माधवीके सदा ठहके ठह आभूषण पहने रहनेपर उसकी खिल्ली ही उड़ाती रही है, वही सत्या इस माधवीसे कह रही है—'जीजी, चलोगी न ?' माधवी इस घरमें कृपानुजीवी सी रहती है, और सत्या लाडली है । इसलिए माधवी यह सुनकर

सत्याकी अतिशय कृतज्ञ हो उठी। उसने कहा, " तू जा सत्या, मुझे क्या घूमने जाना सोहता है!"

इस आभारसे भीनी उसकी बानी सुनकर सत्या एकदम माधवीके गलेमे बाँहें डालके बोली, " चलो जीजी, हवा खायेंगे। जीजी कैसी हो?"

अर्द्ध-विक्षिप्त उस माधवीकी आँखोंमे इतने ही पर आँसू भर आये। सत्या उसकी बेटी तो नहीं है, बहिन ही है,—पर उसके भी बेटी होती तो क्या वह भी ऐसे ही न बोलती? अध-पगली माधवीका मन उसी अनहोनी सभावनाको खींच लाया है। माधवी बोली, " सत्या, मेरी बहिन, मुझे रहने ही दे। तू जा, घूम आ।"

सत्या चली आई और फिर इस या उससे अपनेको उलझाये रही। खाली वह नहीं रहना चाहती थी। अब कठिनाई यह आ पड़ी कि घरकी गाड़ी उस समय घरमें बीमार पड़े एक शिशुके लिए डॉक्टरके यहॉसे दवा लाने चली गई थी। जब तक वह गाड़ी न आये, इसी घरमे रहना होगा, बाहर खुली हवामे जानेका साधन नहीं है। सत्या बाहर जाए तो कैसे जाए? इसपर सत्या मानो छटपटाने लगी।

अम्माजीने उससे पूछा—क्यों सत्या, सुनीका जी तो राजी है न?

सत्याने संक्षिप्त उत्तर दिया—राजी है।

" वह श्रीकान्तका दोस्त कौन था? वह अभी घरपर ही है?"

" घरपर ही हैं।"

तब जैसे कुछ सहसा याद आया हो, अम्माजीने पुकारा, " रामदयाल, ओ रामदयाल!"

इधर सत्यासे कहा, " अरी, अब मुझे याद आया, लखनऊसे खरबूज़े आए पड़े हैं, सुनीताको पहुँचे नहीं। ओ, रामदयाल! देख सत्या, उसे बुला तो।"

सत्याने जल्दीसे कहा, " कल सवेरे भेज देना, अम्मा, यह कोई भेजनेका वक्त है।"

" कल तक किस कामके रह जायेंगे, री। तू बुला तो रामदयालको।"

सत्याको नहीं सूझा कि वह क्या कहे? वह अपने मनको समझ नहीं रही थी। उसे नहीं पता था कि वह मन क्या चाहता है—यह चाहता है कि इस समय सुनीताके यहॉ कोई न जाय, या यह चाहता है कि कोई अवश्य जाय? जो सूचना अभी सुनीताके यहॉ उसने पाई है, वह हलकी नहीं है। ऐसी भारी है

कि उसके जीसे मुश्किलसे ही झिल रही है। क्या वह उस बातको किसी तरह अपने भीतरसे फूट जाने दे ? छिः छिः, वह क्या ऐसी ओछी बनेगी ? तब वह सोचती है कि अनायास अगर कोई वहाँ जीजीके यहाँ जाकर उस दुरभिसन्धिकी खबर पा ही लाये और प्रकट कर दे—तो क्या इसकी भी वह दोषी होगी ? फिर भी उसके मनमें तृप्ति नहीं है कि जीजी सुनीताके लिए मात्र सत्कामना ही उसमें है। उसे लग रहा है कि जीजी जीजाजीकी अनुपस्थितिमें यह कैसा दुस्साहस करने चली है, सो उस जीजीको थोड़ा-बहुत दड भी मिले तो क्या है ? उसके मनमें खीझ है, क्लेश है कि ऐसा हो ही क्यों रहा है ?

उसने जोरसे पुकारकर कहा, " रामदयाल, ओ रामदयाल ! "

अम्माजीने कहा, " सत्या, ले तो आ, जरा दस-बारह खरबूजे एक टोकरीमें रख दे। रामदयाल ले जायगा। . वह आया नहीं ? "

सत्याने धीमेसे कहा, " वह आ रहा है। "

अम्माजीने कहा, " तो जल्दीसे रख रखा दे न । वह झटपट दे आयगा। फिर और कामसे लगेगा। "

सत्याने झल्लाकर कहा, " मुझे नहीं है फुर्सत, काम है। आकर रामदयाल ही रख लेगा, या माधवी जीजीसे कह दो। मुझे पढना भी है कि नहीं। "

अम्माजी लडकीकी इस बातपर झींकने लगीं और सत्या उसे अनसुनी करती हुई चली गई।

उसका मन बहुत बुरा-बुरा हो रहा था । वह अपनेको किसी काममें लगाना चाहती थी। . वे दोनो चले गए और रामदयालने घरका ताला बन्द पाया तो? ·· मै नहीं जानती। मै कुछ नहीं जानती।·· थोड़ी देर वह इसी भाँति हठात् जहाँ तहाँसे अपने मनके लिए व्यस्तता खोजती रही। उसके बाद भागती हुई-सी अम्माजीके पास पहुँची, बोली, " अम्माजी, खरबूजे मेरे साथ रख दो, हम अभी गाडीमे घूमने जायेंगे। उधरसे गाड़ी ले जायेंगे, वहीं दे देंगे। रामदयाल अभी गया तो नहीं अम्मा ? "

" वह तो गया। तू भी अब कहने बैठी है ? "

तभी बाहर छज्जेपर दौड़ जाकर सत्याने पुकारना शुरू किया, " रामदयाल, ओ रामदयाल ! ' जोर जोरसे पुकारती रही । दो-तीन-चार-पाँच मिनट तक वह पुकारती और प्रतीक्षा करती छज्जे पर ही खडी रही, मानो लौटना नहीं चाहती। अन्तमे जब लौटकर आई तो गुस्सेके साथ बोली, " तुम्हें ऐसी क्या जल्दी पड

जाती है न जाने, अम्माजी ! कुछ पूछती हो, न ताछती हो। हम अभी तो उधरसे जा ही रहे थे। ' राम करे, रामदयालको वहाँ कोई न मिले। "

अम्माजी हँसती हुई-सी अपनी इस लाडलीको देखती रही।

सत्याने कहा, " अब भी धन्नूको भेज दो, वह रामदयालको लिवा लायेगा। अभी दूर ही कितना गया होगा। "

अम्माजीने हँसकर कहा, " तेरा क्या काम ऐसा रामदयालसे अटका पडा है, मुझे बता न। "

सत्या चटक आई—" मेरा क्या काम अटका पडा रहता ! तुम्हे ही खबर नहीं है। गाडीमें मै ही खरबूजे ले जाती तो कुछ बिगड न जाता। और ऐसी कौन बेताबी थी। सवेरे क्या न पहुँच सकते थे ? मै कहती हूँ, तो पूछती हैं, मेरा क्या काम अटका पडा है। मेरा क्या काम अटका पडा होता। मै कौन हूँ ? मेरा क्या है ? मैं कुछ भी नहीं कहूँगी। भलेकी ही होती है, तो कुछ कह देती हूँ। नहीं तो मुझे क्या, जबान भी न खोलूँगी। मैंने तो इतना ही कहा है कि धन्नू दौड़कर अभी उसे बुला लायेगा, वह अभी गली पार ही तो गया होगा।"

अम्माजी बोलीं, " तो तू जा न। ऐसा है तो भेज दे धन्नूको। फिर मैं नहीं जानती जो कल तक खरबूजे खराब हो जायँ। "

सत्या फौरन् चली आई। उसने धन्नूको आवाजें दीं। पर धन्नू तुरन्त उपस्थित न हुआ। सत्याने भी फिर उसको पानेका विशेष प्रयास नहीं किया। मानो उसके मनमें हुआ कि मुझे जो करना था, कर चुकी। आगे अब भाग्य है। रामदयाल अब वहाँ घर बन्द पायेगा और लौट आयेगा तो मेरा क़सूर नहीं है।

थोडी देरमें डॉक्टरके घरसे गाडी आ गई। तब साईसको फटकारकर कि वक्त-पर गाडी कहीं क्यों ले जाता है, सत्याने हुक्म दिया कि गाड़ी खोले नहीं, हम जायेंगे। और वह जल्दी जल्दी तैयार होकर गाडीपर सवार होकर चल पडी।

ऐसा कम होता है कि सत्या गाड़ीमें अकेली जावे। इस बार ऐसा ही हुआ। वह अकेली ही जायेगी, गाड़ी पहले जीजीके मकानकी तरफ ही ले जायेगी। लेकिन वहाँ तक जायेगी नहीं। दूरसे ही देख लेगी कि मकान कही बन्द तो नहीं है। इतना देखकर ही बस लौट पडेगी।

किन्तु बाजारके मोड़पर गाडीमेंसे उसने क्या देखा कि फलवालेकी दूकानपर जीजाजी खड़े हैं। तुरन्त गाडी रोककर वह उतरी और श्रीकान्तके पास गई। देखती है कि कई टोंगोंमें तरह-तरहके फल-मेवे तुला रक्खे हैं, और जीजाजी

खुश हैं और बेख़बर हैं।

"जीजाजी!"

श्रीकान्तने मुड़कर देखा, कहा, "अरी, सत्या!"

सत्या बोली, "आप कब आए, जीजाजी?"

वह जानती है कि अभी आरहे हो सकते हैं, फिर भी पूछती है—'कब आए?' मानों अनजान हो!

"बस स्टेशनसे चला ही आ रहा हूँ। वह देखो, ताँगा खड़ा है। (मुड़कर) हो गई यह सेर-भर लीची?"

श्रीकान्त बहुत प्रसन्न मालूम होता था, बड़ा उत्सुक। सत्याने कहा, "यह इतना सब किसके लिए ले रहे हैं?"

बोला, "लाहौरसे लेनेका ख्याल नहीं रहा और वह पूछेगी क्या लाये। तब मैं सोचता हूँ, यहींसे लिये चलूँ। और सत्या, तेरे लिए भी एक चीज़ लाया हूँ। (मुड़कर) बस बस।"

"अजी यह आड़ू देखिए, क्या तौफ़ा हैं!"

"अच्छा अच्छा, आधे सेर रख दो।"

"अजी सेर-भर तो लीजिए ही।"

"सेर, अच्छा सेर सही। (मुड़कर) चल सत्या, हमारे साथ ही चल। आजकी तेरी पढ़ाई हुई कि नहीं?"

सत्याने दुकानपर उन फलोंसे भरे रक्खे हुए ठोंगोंको उठाते हुए कहा, "नहीं नहीं, जीजाजी! हमारे घर चलिए। आज हमारे घर रहना होगा। आप हमारी सब बात टाल देते हैं। आज यह नहीं होगा। मैं अभी देखूँगी, मेरे लिए क्या चीज लाये हो!" और वहींसे साईसको आवाज देकर बुलाया, कहा, "लो भाई, यह सब गाड़ीमें रक्खो। और देखो, वह ताँगा खड़ा है, उसका सामान भी गाड़ीमें रख लो। (मुड़कर) जीजाजी, ताँगेवालेको कितने पैसे देने हैं?"

यह सब एक ही क्षणमें सत्याने कर दिया।

श्रीकान्तने कहा, "पागल हुई है, सत्या!" किन्तु कहते कहते श्रीकान्तको दुकानवालेकी ओर मुख़ातिब होकर दाम चुकानेमें लग जाना पड़ा।

ठिठक खड़े रह गए हुए साईसको सत्याने इशारा किया कि वह जाय और जैसा कहा, वैसा करे। ताँगेमेंसे सब सामान उतारकर गाड़ीमें रक्खे।

श्रीकान्त मुड़ा, तब सत्याने फिर कहा, "ताँगेवालेको कितने पैसे देने

हैं, जीजाजी ?"

"पगली तो नहीं हुई, तू सत्या !"

तब सत्याने आगे बढ़कर खुद ताँगेवालेसे पूछा, "कितने पैसे तुम्हारे चाहिए ?..पाँच आने ? लो, यह लो ।"

पैसे देकर श्रीकान्तकी बाँह पकडकर सत्याने कहा, "चलिए जीजाजी ! खड़े क्यों हैं ?"

श्रीकान्त इस लड़कीपर विस्मित होता हुआ खड़ा रह गया । आखिर उसने कहा, "चल । जहाँ तू कहे, वहीं चल । आख़िर अपनी बहिनकी ही बहिन है न !"

रास्ते-भर सत्या श्रीकान्तसे तरह तरहकी बातें करती रही । न खुद खाली रही, न श्रीकान्तको रहने दिया । लाहौर कहाँ रहे ? कैसे रहे ? क्या करते रहे ? क्या लाए हो ? रात हमारे यहाँ ही रहना होगा । माधवी जीजी बड़ी अच्छी हैं । अम्माजीका गुस्सा बड़ा बुरा होता है । हमारे घोड़ेकी टाँग कल टूटते टूटते बच गई—आदि जाने क्या क्या बातें उसने कीं । उन बातोंमें सुनीता कहीं नहीं आई, और न हरिप्रसन्न । कुछ पूछे, श्रीकान्तको इसका अवसर ही न मिल रहा था ।

"यह फल तो सब हम खायेंगे । कल दूसरे लेकर जाना । आज जीजाजी, जाना नहीं होगा ।"

श्रीकान्तने कहा, "अच्छा ।"

घरपर आकर सत्याने अपने लिए लाहौरसे लाई हुई चीजोंको देखनेकी झट पट मचा दी । जो साड़ी और ब्लाउज-पीस लाए थे, देखकर उसकी फिर आलोचना-प्रत्यालोचना हुई । उसके सहारे काफ़ी समय बीता । हाथके हाथ तुलना क्यों न हो जाय, हाथ कंगनको आरसी क्या—सो तुलनाके लिए अपने पासकी कई साड़ियाँ ले आई । इसी बीच चिन्तापूर्वक और कोलाहलपूर्वक जीजाजीके लिए बिस्तर बिछानेका हुक्म सत्याने दे दिया । उसने फिर अपनी कापियाँ दिखाईं, किताबें दिखाईं । आशय, कि तनिक भी अवकाश उसने श्रीकान्तके पास न जुटने दिया ।

पहर बीतते गए और रात गहरी होती गई । श्रीकान्त निश्चित जानता था कि अब न सही, दस मिनट बाद सही, घर तो वह जा ही रहा है । इसीसे वह यहाँ टिका हुआ था । जब सत्याने हाथ पकड़कर कहा, "चलो जीजाजी, अब बिस्तर-पर चलो । मैं तुम्हें वायलिन बजाकर सुनाऊँगी ।"

तब श्रीकान्तने उठते हुए कहा, "अब देर हो गई है, मैं चलूँ ।"

" नहीं नहीं जीजाजी, आज आप यहीं रहेंगे, मैं कहे देती हूँ। "

श्रीकान्तने हँसकर कहा, " तेरे कहनेसे अब दस तो बजा दिये। अब तो चलने दे।"

सत्या बोली, " मैं तुम्हें ऐसी बुरी लगती हूँ, जीजाजी ? "

श्रीकान्त विस्मयसे सत्याके मुँहकी ओर देखता रह गया, और स्वयं सत्या भी अपने ऊपर विस्मित हुई कि उसने यह क्या कहा !

श्रीकान्तने कहा, " तो कब तक मुझे ठहरना होगा, बता। "

" आज रात यहीं रहिए, सबेरे चले जाइएगा। यहाँ आकर जाने क्या आपको बेताबी पड़ रही है ? लाहौर थे तब तो कुछ न था। अब एक घड़ी भारी हो रही है ! "

" तो अपनी वायलिन ही सुनानेको तू कहती है न ? अच्छा सुना, मैं उसके बाद जाऊँगा। "

सत्याने बिगड़कर कहा, " तो आप जाइए, अभी जाइए। मैंने नाहक इतनी देर आपको रोका। मैं क्या जानती थी—"

श्रीकान्तने उसके गालपर हलकेसे चपत लगाकर कहा, " दुर पगली ! "

" आप जाइए, मैं कुछ नहीं कहती हूँ। "

श्रीकान्तने कहा, " अच्छा—अच्छा, चल, बता बिस्तर कहाँ है ? नाराज क्यों होती है ? "

" आप जायेंगे तो नहीं ? "

" कुछ कसम खिलायगी ? "

" तो जाइए न, मैं रोकनेवाली कौन हूँ ! "

सच यह है कि कई रोज प्रवासमें रहकर अपने शहरमें आना और बिना समय खोए पत्नीके पास अपने घर न पहुँचना, साधारणतया यह स्वाभाविक नहीं है। श्रीकान्तके लिए तो और भी नहीं है। अव्वल तो इसलिए कि सुनीता सुनीता है, फिर इसलिए भी कि हरिप्रसन्न वहाँ है। लेकिन सत्या इस श्रीकान्तके लिए ऐसी है कि बहुत कोमल, बहुत पवित्र—श्रीकान्त उसे चोट नहीं दे सकता। वह अब तक किताबों और सपनों-सपनोंमें ही तो रही है। अपनी सपनीली आशाओंमें वह वृथा न हो, ऐसा वर उसे अभी कहाँ प्राप्त है। तब श्रीकान्त भी क्या इस छोटी-सी चाहमें उसे वृथा कर दे ? उससे कहा, " भई, कसम तो मैं नहीं खाऊँगा। "

सत्याने कहा, " अच्छी बात है, न सहा जाय तो चले जाइएगा। अभी तो बिस्तरपर चलिए।"

" चल।"

बिस्तरपर श्रीकान्तको बैठाकर सत्याने कहा, " मैं वायलिन ले आऊँ, अभी ले आती हूँ।"

वहाँसे आकर वह सीधी वायलिनके लिए नहीं गई, रामदयालकी खोजमें गई। रामदयाल जब सामने आया, तब धमकाकर पूछा, " खरबूजे दे आया ?"

" दे आया ?"

" जीजी थीं ?"

" थीं।"

" उन्होने क्या कहा ?"

" कुछ नहीं कहा।"

" अच्छा जा।"

उसके बाद वह वायलिन लेकर पहुँची। बहुत ही अच्छा वह वायलिन बजाती है। ऐसा हलका हाथ है, जैसे कि फूल। श्रीकान्त सुनता रहा। खतम करके जब सत्याने कहा, " बहुत वक्त हो गया, अब आराम करो।" तब श्रीकान्त बोला, " मैं जरा जाता हूँ।"

" कहाँ जाते हो ?"

" कहीं नहीं, जरा नीचे जाता हूँ।"

सत्या समझी कि यों ही किसी जरूरतसे जाते होंगे। बोली, " सोयेंगे तो यहीं न ?"

इस प्रश्नको सुनकर श्रीकान्तने कहा, " और नहीं तो क्या यह वक्त कहीं और जानेका है ? यहाँ नहीं तो कहाँ सोऊँगा ?"

सत्या चुप होकर अपनी जगह चली गई। वह मनमें शायद बिल्कुल निश्चिन्त तो न थी, फिर भी मानों उसके मनमें था कि अब मैं क्या करूँ ? मेरा आगे बस नहीं।

श्रीकान्तने घरसे बाहर जाते हुए डयौढ़ीपर जमादारसे कह दिया कि बाजारसे हम अभी आते हैं, पन्द्रह-बीस मिनटमें आजायेंगे। नहीं आयें तो आध घण्टे बाद तुम डयौढी बन्द कर लेना।

उसने सोचा है कि घरपर रोशनी जलती हुई मिली, तब तो वह वहाँ चला ही जायगा। और जो सब लोग सो गये हुए तब वृथा उनकी नींद तोड़ेगा नहीं; चुपचाप लौट आएगा, और यहीं आकर सो रहेगा। फिर तो सवेरे ही जायगा।

लेकिन घर पहुँचकर देखता है कि ज़ीनेमें बाहर बड़ा ताला पड़ा है। उसकी कुछ भी समझमे नहीं आया। एक दो मिनट तो वह वहीं खड़ा रह गया, मानो ज़ोरसे सिरपर चोट पड़ी हो, और वह उसके तले सुन्न हो रहा हो। फिर मानों सिरपर उस चोटके स्थलको दायें हाथसे खुजलाता हुआ वह लौटता चला आया।

आते आते एक जगह एक तेज चालसे जाती हुई मोटरकी झपटमें आनेसे वह बाल-बाल बचा। तब उसने मोटरकी ओर देखा। लेकिन वह तो जा चुकी थी।

उस वक्त रातके बारह बजनेवाले थे। शहर सुनसान पड़ता जा रहा था।

वह चुपचाप अपनी जगहपर आकर सो रहा।

४१

सुनीताने अपने ऊपरसे अपना अधिकार मानो बिल्कुल छोड़ दिया था। हरिप्रसन्नने जब कहा, "भाभी, यहाँसे हम सिनेमा जायेंगे। वहाँसे फिर नहीं लौटेंगे। बस, सबेरे ही लौटेंगे।" तब निरपेक्ष भावसे सुनीताने इस बातको सुन लिया। उसने न उत्साह दिखलाया, न उपेक्षा।

हरिप्रसन्नने कहा, "ठीक समयपर मोटर हमें लेने आ जायगी। तुम तैयार रहना।"

सुनीताने कहा, 'अच्छा।' इस 'अच्छा' मे ध्वनि थी कि वह क्यो न तैयार रहेगी? इस क्षण भी और इस क्षणके आगे भी सदा उसे तैयार ही समझो।

हरिप्रसन्नके मनमे बडी शङ्का-सी है। किन्तु सुनीताके मनमें कुछ भी नहीं है। वह तो अपनेको छोड़ ही चुकी है। जहाँ चाहोगे, वहाँ वह क्यों न जायगी?

ठीक समयपर मोटर आकर नीचे सड़क परसे ही हॉर्न देने लगी। उस समय हरिप्रसन्न सुनीताको बुला लानेके लिए उसके कमरेमें गया। चुपचाप पहुँचकर उसने वहाँ देखा कि सुनीताने अभी कुछ भी तैयारी नहीं की है। वह तो एक ओर दीवारकी तरफ मुँह किये हुए आँखें बन्द किये बैठी है। हरिप्रसन्नने कहा, "भाभी, चलो।"

और यह कहते हुए जैसे ही कि वह भाभीके पास पहुँचा, उसने देखा कि

भाभीके सामने दीवारसे टिकी हुई श्रीकान्तकी तस्वीर रखी हुई है।

हरिप्रसन्नकी आवाज सुनते ही सुनीता उठ खड़ी हुई। बोली, " चलूँ ? अच्छा चलती हूँ। "

हरिप्रसन्नने कहा, " भाभी, ऐसे चलोगी ! कपड़े तो बदल लो। "

भाभीने पूछा, " ऐसे नहीं चलूँ ? कपड़े बदल लूँ ? "

हरिप्रसन्नने कुछ विस्मित-स्वरमें कहा, " ऐसे कपडे पहनकर क्यों चलोगी भाभी, जो रोजके पहननेके हैं। आजका दिन और दिन है। वह अपनेमें अलग है। वह हर दिन जैसा नहीं है। आजके इस दिनको साधारण मत बनाओ, भाभी। इसलिए और वस्त्र पहनो। भाभी, वह पहनो जो अच्छे-से-अच्छे हो। "

" रेशमी ? "

" हॉ, कमसे कम रेशमी। "

सुनीताने शान्त भावसे कहा, " अच्छी बात है। "

हरिप्रसन्नने आग्रहग्रस्त होकर कहा, " जल्दी करो, मोटर खड़ी है। " और फिर आगे बढकर श्रीकान्तकी तस्वीर उठाते हुए उसने कहा, " यह तो साथ नहीं जायगी न ? इसे दीवारपर लगा दूँ ? "

" लगा दो। "

उसने तस्वीर लगा दी और हरिप्रसन्नने कहा, " मैं इतने नीचे ठहरता हूँ, भाभी। तुम कपडे बदलकर आओ। भाभी, हमारे दलके युवक भी देखें कि उनकी देवी चौधरानी सौन्दर्यकी भी देवी है। सौन्दर्य ईश्वरके ऐश्वर्यका एक रूप है भाभी, सौन्दर्य शक्ति है। सौन्दर्य आदर्श है। वह स्फूर्ति देता है, पवित्रता देता है। जो असुन्दर है, वह सत्य भी कैसे है ? "

कहकर हरिप्रसन्न चला गया। कुछ देर बाद जब भाभी उसके सामने आविर्भूत हुई, तब वह देखकर एकदम दंग रह गया। क्या उसने कल्पनामें भी वह रूप पाया है, जो अब सामने है ? वस्त्र क्या व्यक्तिमें इतनी प्रभा डाल सकते हैं ? भाभीकी इस मूर्त्तिको देखकर वह मनमें सहमा-सा रह गया है।

भाभीने उसके सामने आकर कहा, " चलिए। "

हरिप्रसन्नके मनमें हुआ कि कहे, ' भाभी, मुझे क्षमा करो। इन कपड़ोंको मत पहनो। यह बहुत हैं, मुझसे झिलेंगे कैसे ? ' लेकिन वह कुछ भी नहीं कह सका।

सुनीताने फिर कहा, " चलिए। "

और नीचेसे मोटरके हॉर्नकी भी आवाज आई।

हरिप्रसन्न जैसे जागकर बोला, "हाँ, चलो चलो।"

सुनीता चली। नीचे ज़ीनेमे ताला डाला और मोटरमें आ बैठी। पिछली सीटमे उसके पास ही आकर हरिप्रसन्न बैठ गया और चन्द्रसेनने मोटर चला दी।

सिनेमा हाउस पहुँचकर हरिप्रसन्नने चन्द्रसेनसे कुछ देर बात की। चन्द्रसेन चला गया, और मोटरको चाबीसे बन्द करके वे लोग सिनेमा-हाउसमे गये।

हरिप्रसन्नने सोचा था कि ठीक आधी रातको घरसे निकलकर चलना ठीक न होगा। सँभाल-सँभालकर पैर रखना चाहिए। स्थिति ऐसी ही है। सिनेमा-घरोंमेंसे तो उस आधी रातके समय बहुत-से लोग निकलकर जाते हैं। उन्हींके बीचमें उन दोनोकी, और उन दोनोंकी एक मोटरकी, उपस्थिति किसीके लिए विशेष कुतूहलकी वस्तु नहीं होगी। सिनेमाका प्रोग्राम इसीलिए उसने बनाया था। पर अब उसे मालूम हो रहा है कि मात्र उस प्रयोजनके कारण ही नहीं, इस सुनीताके साथ सिनेमामें आना अपन आपमे ही एक मधुर बात हुई है। उसको इस समय बड़ा अच्छा लग रहा है। यह जो पास सुनीता बैठी है, कैसी मनोज, कैसी कमनीय, लोग क्यों न देखें कि वह हरिप्रसन्नके साथ है ? सुनीताके सान्निध्यसे उसके चित्तको और इन्द्रियोंको अद्भुत उकसाहट और विचित्र तृप्ति मिल रही है। मानों सुनीताकी शक्ति दुर्निवार रूपमें उसके निकट प्रमाणित हो रही है। सुनीताके आकर्षणकी अजेयतापर वह सुखी है। वह सोचता है—जो चाहिए वह यही है, यही है।

दोनों आपसमें बोल नहीं रहे हैं। सुनीता शून्य है, हरिप्रसन्न अनागत-ग्रस्त। वह विचित्र दृश्य देख रहा है। और सामने दिखाया जाता हुआ चित्र भी वह देख रहा है जो मानों उसकी आत्मामेंसे उसके आदर्शवादको ओटमें करके उसके चित्तकी ऊपरी वृत्तियोंको प्रोत्साहन दे रहा है। हरिप्रसन्न जब कि उसका स्वाद ले रहा है, तब उससे लड़ भी रहा है।

इण्टरवलपर उसने पूछा—भाभी, कुछ चाहिए ?

"कुछ नहीं चाहिए।"

"हमारा घरसे बारह बजे चलना ठीक न होता भाभी, इसलिए हम यहाँ आये हैं। और कोई बात नहीं है।"

सुनीताने सुन लिया, 'और कोई बात नहीं है।'

"मुझे सिनेमाका शौक नहीं है, भाभी। सिनेमामें मुल्ककी बरबादी है, सिनेमासे हम इन्द्रियसेवी बनते हैं, सिनेमासे हमारा आदर्श फीका होता है,

सिनेमाने प्रेमको शरीरकी वस्तु बना दिया है। इन्द्रियपरायणतासे क्या होगा? हमारा आदर्श उज्ज्वल रहे, दहकता रहे, भाभी—"

भाभीने सुन लिया कि 'दहकता रहे, उज्ज्वल रहे।'

"क्या पखा बुरा लगता है? सिरमें दर्द तो नहीं हो रहा? पखा बन्द करा दूँ?"

"हाँ, करा दो।"

हरिप्रसन्न व्यस्ततापूर्वक उठा, और कह-सुनकर पखा बन्द करा दिया। उसके बाद तस्वीर शुरू हुई और अँधेरा हो गया। वे तब उधर देखनेमें लग गये।

खेल समाप्त होनेके बाद हरिप्रसन्न मोटरमें ड्राइवरकी जगह बैठा, और अपने पासकी खिड़की खुली रख कर सुनीतासे बोला—बैठो।

सुनीताने चुपचाप पिछली सीटकी खिड़कीको खोला और वहाँ अकेली बैठ गई। हरिप्रसन्नने निरापद भावसे हाथ बढ़ाकर अगली सीटकी खिड़कीको बन्द कर लिया, कुछ कहा नहीं।

हरिप्रसन्न तब मोटरको लिये चला। लिये चला, इससे आगे होकर कह लीजिए, उड़ाये चला।

रास्तेमें एक जगह जब गाड़ी एक आदमीसे टकराते टकराते बच गई, और फिर कुछ दूर आगे निकल गई तब हरिप्रसन्नने कहा, "भाई साहब अगर आज ही आ गए तो?"

सुनीताने धीमेसे कहा, "वह अभी मरनेसे बच गए हैं।"

हरिप्रसन्नके मनमें भी वह बात थी कि हो न हो यह व्यक्ति जो मोटरकी टक्करसे अभी बच गया है, श्रीकान्त ही है। लेकिन सुनीताके मुँहसे यह सुनकर उसने अपनेपर अविश्वास करना चाहा। उसने बड़े विस्मयसे पूछा, "क्या-आ?"

सुनीताने कहा, "शायद वह हमारे घरको बन्द देख कर ही लौट रहे थे कि हमने उन्हें बचा दिया।"

हरिप्रसन्नने आतंकित वाणीमें पूछा, "कौ-औन?"

"वही जो अभी मिले थे।"

"वह श्रीकान्त?—तुमने देखा?"

"परमात्मा करे, वह न हों। पर हैं वही। वह आगए हैं और उनको यह भी मालूम है कि हम घरपर नहीं हैं।"

हरिप्रसन्न—कहती क्या हो!

"मै ठीक कहती हूँ। लेकिन तुम चिन्ता न करो। मैं भी चिन्ता क्यों करूँ?

चिन्तासे क्या [illegible] है ?"

"तो लौट चलें, भाभी ? कहो तो घर पहुँचाये देता हूँ ?"

भाभीने संक्षिप्त भावसे कह दिया—नहीं।

"भाभी, मैं ठीक नहीं देख सका। पर तुम लौट जा सकती हो।"

"हाँ, वही थे। लेकिन उस बातकी चर्चा न करो। लौट हम नहीं सकते।"

"मैं तो नहीं ही लौट सकता। अपने आपमें मैं अकेला हूँ। लौटूँ तो कहाँ? पर तुम्हारे पास लौटनेको जगह है, जगह तुमने बचा छोड़ी है।"

"तुम उन्हें नहीं जानते—"

"मैं उन्हे नहीं जानता। तुम जानती हो और कहती हो कि तुम नहीं लौट सकतीं—तो भाभी, चलो।"

और कुछ धीमी हो गई हुई गाडीको यह कहकर हरिप्रसन्नने एक साथ तेज रफ्तारपर छोड दिया।

कुछ देर बाद हरिप्रसन्नने कहा, "तुम लौटतीं तो मै क्या करता, जानती हो?"

"क्या करते?"

"लौटने नहीं देता।"

"करते क्या?"

"ठीक नहीं जानता। पर अपने युवाओंके विश्वासके साथ खेल न होने देता।"

"जबरदस्ती करते?"

"ठीक कुछ भी नहीं जानता पर तुम्हें गिरने नहीं देता। भाभी, जब तुम दलकी रानी हो तब रानी ही रहोगी। दयामें नहीं गिरोगी।"

"मैं समझी—"

"क्या समझीं तुम?"

"तुम समझते हो कि तुम दया नहीं जानते। यह मिथ्या है।"

"कुछ हो भाभी, लेकिन आज दलके बालकोंके सामने तुम्हें होना ही होता। वे बालक हैं, आकाक्षी हैं, उन्हे मद मिलता रहना चाहिए। देश उनके सामनेसे फीका भी हो जाता है। इसलिए, चाहता हूँ सामने तुम होओ।"

"हॉ, होऊँगी सामने। इसीसे आई हूँ। सामने होकर कहूँगी—मेरा नाम सुनीता है। मैं रानी नही हूँ। रानी होना अस्वीकार करती हूँ। तुम भी रानीको अस्वीकार करो। स्वीकार करो सुनीताको, जो घरकी रानी है क्यो कि घरकी दासी है।—हरी, मद नहीं, अमृत चाहो।"

" सुनीता, इसीसे कहता हूँ, तुम रानी होगी। बालक तुम्हें देखते ही पहचान लेंगे। उन्हें अवकाश कब होगा कि तुम्हें सुनें। तुम कुछ भी कहो, सबमें वे यही पायेंगे कि तुम रानी हो। मैं उन्हें और तुम्हें जानता हूँ। जानता हूँ, वे रानी चाहते हैं और चाह बडी चीज है। तुम अटूट हो और यह सब कुछ है। "

सुनीता कुछ नहीं बोली। वह अप्रत्याशी बनी है तब आगे होनहारमें क्यों कुछ झाँककर देखनेका कष्ट करे। जो होगा, होगा। वह तो जो है और होता जा रहा है, उसीको देख रही है।...

रातके बारह बज चुके हैं। मोटर चल रही है। हरिप्रसन्न अति कुशल ड्राइवर है। वह सरपट जा रही है। हवा ठंडी लगती है। पेड पाससे ऐसे निकल जाते हैं, जैसे भूत। शहर पीछे छूट गया है। मोटर कहाँ जा रही है—क्या जाने? पर वह भागी चली जा रही है। कितनी दूर आगए हैं? यह कौन-सी सड़क है? . . . कि देखते देखते मोटर धीमी हुई। वह फिर सड़कके एक ओर ढालकी तरफ चल पड़ी। वहाँ लीक नहीं है, राह वहाँ नहीं सूझती, मोटरके लैम्प बुझा दिए गये हैं, पर अँधेरेमें धीरे-धीरे वह सरक रही है। कुछ दूर बढ़ने पर वह रुक गई। अजनकी घर्घराट चुप हो गई। हरिप्रसन्न उतरा। उसने चारों ओर देखा। फिर आकर पिछली खिड़की खोली, बोला—आओ भाभी!

. .सुनसान जगल। अँधेरी रात। एक बजा होगा। .

सुनीताने सुना—" आओ भाभी!"

वह उतरकर आई। उसने कुछ नहीं पूछा, कुछ नहीं कहा।

"मेरा हाथ पकड लो।"

सुनीता साथ साथ चल पड़ी, हाथ नहीं पकड़ा।

"हाथ पकड लो। अँधेरी बहुत है।"

और कहनेके साथ एक हाथने बढ़कर टटोलकर सुनीताके हाथको थाम लिया।

सुनीताने पाया कि अपने हाथके यों एक मर्दके मजबूत हाथमें टिक जानेसे उसे मार्ग चलनेमें अवश्य बड़ी सुविधा हो गई है। यह पुरुषकी कृपा है और वह इसके लिए कृतज्ञ है।

हरिप्रसन्नके हाथमें टॉर्च थी और रिवॉल्वर था। हवा ठडी चल रही थी। चारों तरफ फैली छोटी-छोटी झाड़ियाँ चुप सो रही थीं। इनके चलनेकी आहट ही वहाँ आहट मालूम होती थी।

चलते चलते अत्यन्त आकस्मिक रूपमें सुनीताको अपनी बाँहोंमें समेट लेकर

हरिप्रसन्न बोले उ[illegible] गज़ब हुआ !

जैसे उसको ध्वनिकी आशका संक्रामक हो। सुनीता घबराई-सी बोली, "क्या हुआ ?"

उसने सुनीताको बाहुओमे और कसके कहा, "वह उधर देखो। कुछ दीखा ? नहीं ? ठहरो, फिर दीखेगा।"

कुछ सेकिण्ड बाद एक लाल रोशनी चमकी और क्षण होते होते वह लुप्त भी हो गई।

भयसे भीत चकित सुनीताने कहा, "वह क्या है ?"

हरिप्रसन्नने उत्तर दिया, "वह खतरा है। वह लाल रोशनी है। अब वहाँ नहीं जाना होगा। वहाँ—"

"क्यो, क्या हुआ ?"

हरिप्रसन्नकी निगाह वहीं बँधी थी। कहा, "वहाँ शायद मौत है—"

सुनकर सुनीता हरिप्रसन्नकी बाँहोमे सिमटी हुई उस अंधकारमे उसके चेहरेकी ओर उत्सुकतासे देखने लगी।

"क्या हुआ ? क्या हुआ ? बोलो।"

मानों हरिप्रसन्नको पता भी न हो इस भाँति अनायास जोरसे सुनीताको अपनेसे चिपटाकर उसने कहा, "तुम जानती हो, अकेला होता तो मैं अब क्या करता ? वहाँ संकट है। उस सकटके मुँहको ही जाकर मै पकड़ता। लेकिन आज तो मैं उधर ताकता दूर खड़ा हूँ। मैं कुछ भी नहीं कर सकता।"

और उसी भाँति एकाएक झुककर अपने हाथसे सुनीताकी ठोडी ऊपर उठाकर बोला, "क्यों ? क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ और—प्रेम आदमीको निर्बल बनाता है।"

इस एक क्षणमे सुनीता सब कुछ भूल गई।

हरिप्रसन्नने कहा, "जानती हो वहाँ क्या हुआ होगा ? दलके व्यक्ति मरे न होंगे तो पकड़े जरूर गए होंगे। लेकिन मै तुम्हें लिये यहाँ खड़ा हूँ। बोलो, तुम कहती हो कि मै भी चला जाऊँ और जो भी विपदा हो, उसका सामना करूँ ?"

उस समय सुनीताको अनुभव हुआ कि हाय, विधाताने नारीको अबला और पुरुषके समक्ष सदा अपेक्षणीय क्यो बनाया है ? और वह कुछ भी नहीं बोली, हरिप्रसन्नके अकमे सिमटी ही रही।

हरिप्रसन्नने कहा, "भाभी, तुम्हें यो छोडकर मै मरनेके लिए आगे नही बढ़ूँगा।

यह मूर्खता मुझसे न होगी। मरनेसे क्या मैं डरता हूँ कि मुझे उसकी जल्दी हो ? मुझे उसकी जल्दी नहीं है। भाभी, मैं तुम्हें बताता हूँ, मैं उस दलका नायक था। नायक क्या पीछे हटेगा ? नहीं, वैसा आदमी मैं नहीं हूँ। इसलिए मैं जानता हूँ कि मेरे आगे क्या है ?...आओ, भाभी ! कहीं आस-पास बैठने लायक जगह हो तो बैठें। अभी चलनेमें खतरा है। यह सड़क चक्करकी तो है, फिर भी कुछ देरमें यहाँ लोग आ सकते हैं। दो-तीन घंटे यहाँ निकाल देकर ही चलना हो सकेगा।"

सुनीताने देखा कि अब जब संकट सिरपर आ मँडराया है, हरिप्रसन्न प्रबुद्ध है। वह सचेत है। अब उसमें संकोच नहीं है। उस समय सुनीता उसकी बाहुओंमें घिरी हुई अनुग्रहीताकी भाँति चलने लगी। मानों इसमें उसे कुछ जीवन-कृतार्थता ही उपलब्ध हुई।

थोडी दूरपर झाड़ियोंका एक घना झुरमुट-सा मिला। वहाँ बीचमें कुछ हमवार-सी जगह थी। उस जगह पहुँचकर हरिप्रसन्नने कहा, "आओ, यहाँ बैठें और थोड़ी रात बीतने दें।"

सुनीता बैठ गई।

वह एक घिसी चट्टान थी। चट्टानका स्पर्श ठण्डा था। ऊपर तारे थे। बयार धीमी धीमी चल रही थी। आस-पास मनुष्यका पता न था। शहर दूर था, बहुत दूर। यहाँ वन था, वनस्पति थी। और अँधेरेमें वन सोया था, वनस्पति भी चुप सोई थी। हवामें कभी झाड़ियोंकी कुछ फुनगियाँ जरा हिलती-डोलती थीं।

हरिप्रसन्नने कहा, "तुम लेट जाओ, सुनीता !"

और सुनीता लेट गई।

हरिप्रसन्नने जो अपनी बाहुओंसे उसे अपनी जंघाका सहारा देकर लिटा लिया है सो वह भी वहाँ लेट गई है। वह कृतज्ञ है।

हरिप्रसन्नने कहा, "सुनीता, मैं अब तुम्हें भाभी नहीं कहता। जिन्हें भाई कहता हूँ, उनकी ही मार्फत तुम तक पहुँचूँ, अब ऐसा नहीं है। मैं तुम्हें सुनीता कहूँगा। हम सीधे एक दूसरेके सामने हैं। किसीकी मारफत हम दोनोंके बीचमें नहीं है। श्रीकान्त तुम्हारा पति है, मेरा मित्र है। पति एक होता है, मित्र भी शायद एक ही होता है। मेरे लिए तो वह एक ही है।...लेकिन मौतसे बड़ी क्या चीज़ है ? अगर कोई प्रभु है, ईश्वर है, तो मौतमें मैं उसे देखता हूँ। यह जो हमारे ऊपर मौतका हाथ है, यही उस प्रभुकी रक्षाका हाथ है। सुनीता, अब

मैं और मौत आमने-सामने हैं। मैं उससे आँख-मिचौनी नहीं खेलूँगा। मैं खुली छातीपर उसे लूँगा। अब यह दिनोंकी बात है। दिन उँगलीपर गिने जायँ, इतने भी अब हम दोनोंके बीचमें मत समझना।...उस महाशक्तिके सामने होकर मैं झूठ नहीं बोलूँगा। मैं सच कहूँगा। मैं सच कहता हूँ, मेरी सुनीता—"

और निश्चल पड़ी हुई सुनीताकी बाहुको उठाकर उसने अपनी आँखोंसे लगा लिया। उसका कण्ठ भर आया, उसकी देह काँपने लगी। वह जैसे डरसे भर गया।

"मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ—प्रेम? लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ, सुनीता!"

और बिलकुल अपने मुखके समीप ही ठहरे हुए उस सुनीताके मुखको टक-टकी बाँधकर वह देखता रह गया।

वह उठी। उठकर सम्भ्रमपूर्वक अलग होकर बैठ गई। सुनीताका मन इस व्यक्तिके लिए पीड़ासे भर गया। वह अपनेको सह न सकी। यह उसके लिए अत्यन्त अप्रत्याशित था। अतिशय विस्मयकारी, अतिशय भयकारी था।

हरिप्रसन्नने कहा, "डरो नहीं, सुनीता। दया मैं नहीं मानता, फिर भी डरो नहीं। मैं चला जाता हूँ। मैं यहाँसे दूर रहूँगा। तुम बेखटके रहो। मैं नहीं जानता, मैं क्या चाहता हूँ। लेकिन तुम्हारे मनको मैं चोट नहीं पहुँचाऊँगा। मैं क्यों यह भी तुमसे कहता हूँ कि अब मौतमें और मुझमें थोड़ा फासला है। लेकिन इसका तुम बिल्कुल ख्याल मत करो। मेरा बिलकुल ख्याल न करो। अगर मेरी मौतकी बात बड़ी है, तो मेरे ही लिए बड़ी रहे। अगर्चे मेरे लिए भी बड़ी क्यों रहे, यह मैं नहीं जानता। तुम आराम करो, सुनीता। अगर खतरा न होता तो मैं तुम्हें अभी घर पहुँचा देता। तुम सोओ। मैं चला जा रहा हूँ। लौटनेका वक्त होगा, तब आ जाऊँगा।"

कहकर हरिप्रसन्न चलनेको हुआ।

सुनीता गुम-सुम बैठी रही।

चलते चलते हरिप्रसन्नने कहा, "जाऊँ?"

सुनीता कुछ नहीं बोली। हरिप्रसन्न चला गया।

उसके थोड़ी देर बाद तक सुनीता उसी भाँति बैठी रही। फिर वहीं अपनी बाँहका तकिया लगाकर वह लेट गई। लेटे लेटे आख़िर क्या वह सो भी गई?

...रातको दो-ढाई बजेके क़रीब चाँद निकल आया। दूध-सी चाँदनी बिछ गई। आसमान हँसता दिखाई दिया। प्रकृति भी उसके नीचे खिली। वातावरणमें

अजब मोह था। बयारमें गुलाबी सर्दी थी।

हरिप्रसन्न नहीं सो सका, नहीं सो सका। मौत उसे हलकी लगती है, पर इन घड़ियोंका एक एक पल उससे उठाए नहीं उठता। चाँदकी चाँदनी, चाँदनी क्यों है? क्यों वह ऐसी मीठी है? अरे, यह सन्नाटा उसे सुलाता क्यों नहीं? क्यों यह सब कुछ एक रसीला-सा सन्देश उसके कानमें सुना रहा है? वह कौन है? वह सन्देश क्या है? कौन उसे कह रहा है—'अरे जा, अरे जा।' और यह बिना ही बोले कौन उसके भीतर पुकार रहा है—'अरे आ, अरे आ।' .. सो वह नहीं सो सका, नहीं सो सका।

और एक घडी बीती, दो घड़ी बीती। जितनी घडी बिताई जा सकीं, बिताई। वह इसमें हारता ही गया, घिरता ही गया। अन्तमें उठा। उठकर चला। वह कुछ नहीं जानता। जा रहा है, क्योंकि पाँव ले जा रहे हैं। कहाँ जा रहा है?—जहाँ पहुँच जाय। जहाँ कहीं उसके भीतरका दाह उसे ठेले लिये जा रहा है। उस ओर, जहाँ कोई सोया पड़ा है। वहाँ, जहाँ विश्वका केन्द्र है, जहाँसे सबको जीवन प्राप्त है, जहाँसे फिर सबको मौत भी मिलती है।

सुनीता खुले पत्थरपर सो रही है। तकिया बाँहका भी नहीं है। वही है और कुछ भी नहीं है, और वह सो रही है। ओह, रेशमी वस्त्र चाँदनीमें कैसे खिल रहे हैं! और यह मुखडा विनिद्रित, सम्पुटित कैसा प्यारा लग रहा है! कैसा प्यारा और कैसा ज़हर!

हरिप्रसन्न इस मूरतको बँधा-खड़ा-सा देखता रहा। क्या तूफान-सा उसके अन्दर मचा! इस अपदार्थने जैसे उसके भीतरके अणु-अणुको झकझोर दिया है। मानो उसकी सारी अहताको तोड़कर चूर कर दिया है! उसे आता हैं ऐसा क्रोध, ऐसी स्पर्धा और ऐसा सम्मोह और ऐसी याचकता कि नहीं जानता कि इस लेटी हुई नारीको दोनों मुट्ठियोंमें जोरसे पकडकर उसे मसलकर मल डालना चाहता है कि उसकी सारी जान लहूकी बूँद बूँद करके उसमेंसे चू जाय, या कि यह चाहता है कि आँसू बनकर वही स्वय समग्रका समग्र, अपने अणु-परमाणु तक इसके चरणोंमें बेसुध होकर, आँसू बनकर, बह उठे कि कभी थमे ही नहीं,—सदा उन चरणोंको धोता हुआ बहता ही रहे।

वह आया था कि बस, एक बेर उस सोती हुईको देख लेकर वह उन्हीं पाँव लौट जायगा। लेकिन वह तो उस दर्शनको वहाँ पीने लगा। पीते पीते क्या हुआ कि एकाएक बैठकर उस नारीके चरणोंकी उँगलियोंको उसने धीमेसे चूम लिया।

ऐसे धीमे कि शायद ओठोंने छुआ भी नहीं।

किन्तु लहक तो लहकती ही गई। वह पास आकर बैठा। धीमेसे उसके हाथको उठाया और मुँहसे लगाया। शनैः शनैः फिर सुनीताकी देहपर उसने हाथ फेरना शुरू किया। मद जैसे उसपर चढता ही जाता था।

धीरे धीरे सुनीताने आँख खोली। नहीं उसने आँख नहीं खोली। वह अपने शरीरपर आहिस्ता आहिस्ता फिरते हुए इस पुरुषके हाथका स्पर्श अनुभव करने लगी। कुछ देर तो वह यों ही पडी रही। फिर आँख खोलकर मानों कूजकर उसने कहा, "हरि बाबू!"

हरिप्रसन्नने अत्यंत अवश स्वरमें कहा, "सुनीता!" और ऐसे देखा जैसे वह माफी चाहता है।

अत्यन्त स्निग्ध स्वरमें लेटे ही लेटे सुनीताने कहा, "हरीबाबू! तुम क्या करोगे?"

"मैं कुछ नहीं जानता। मैं कुछ नहीं जानना चाहता, सुनीता, दो-तीन रोज मुझे और मिलेंगे। मैं कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा, नहीं जानता। सुनीता—"

"तुम क्या चाहते हो हरी बाबू?"

"क्या चाहता हूँ? तुम पूछोगी—क्या चाहता हूँ? तो सुनो, तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ। उसके बाद—"

"तो मैं तो हूँ। तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते हो?"

हरिप्रसन्नका हाथ घूमता घूमता सुनीताकी बाहुपर रुक गया था, वहींपर रुका रहा। बोल उठा, "भाभी!"

"तुम्हें काहेकी झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया है? तुम मरो क्यो? मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इन्कार कब करती हूँ? लेकिन अपनेको मारो मत। हरी बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।"

हरिप्रसन्नका हाथ अब भी वहीं रुका रहा।

सुनीताने कहा, "मुझे चाहते हो, हरी बाबू? खूब सोचो।" सुनीता कहते-कहते उठ बैठी।

"तुम्हें ही चाहता हूँ, सुनीता।"

उठते उठतेमें उसके सिरपरसे साड़ी उतर गई थी। वह साड़ी मानों लापर्वाहीमें फिर उसके स्कंध-भागसे भी नीचे सरक आई थी।

"मुझे चाहते हो? मैं यह हूँ—"

और कहकर सुनीताने अपना जम्पर उतारकर अलग रख दिया।

हरिप्रसन्न अचकचाया-सा बोला, "भाभी!"

सुनीताकी वाणीमें न व्यंग मालूम हुआ, न झल्लाहट। उसने कहा, "मुझे ही चाहते हो न? मुझे लो।"

और उसने अपने चारों ओरसे साड़ी हटाना शुरू कर दिया।

हरिप्रसन्न बेहद घबड़ाकर बोला, "भाभी!"

"क्या चाहते हो, हरी बाबू? मुझे ही चाहते हो न? वह तो साड़ी है, मैं नहीं हूँ। मैं यह हूँ।"

—और कहते कहते साड़ी बिल्कुल अलग कर दी।

हरिप्रसन्नको कुछ सूझे न सूझता था। उसने शरीरपर अब शेष बचे बॉडीको खोलनेकी चेष्टामें लगे हुए सुनीताके हाथोंको जोरसे पकड़कर, मानों चीखकर कहा, "भाभी! भाभी!"

किन्तु सुनीता तनिक स्मितके साथ बोली, "वह तो बाधा है, हरी। उसके रहते मुझे कैसे पाओगे? उसे उतर जाने दो, तब मुझे लेना। खुली मुझको ही लेना। मुझको ही नहीं चाहते?"

—और अपने हाथ छुड़ाकर अपने शरीरसे चिपकी हुई बॉडीको उसने फाड़ दिया। वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गिरा।

हरिप्रसन्नने दोनों हाथोंसे अपनी आँखें ढक लीं। उसके मुँहसे शब्द नहीं फूट सका। सर्वथा पराभूत वह अपने पराजयमें गड़ जाने लगा। लज्जाने उसे जमा दिया। मानों काटो तो लहू नहीं। धरती फट क्यों न गई कि वह गड जाता।

सुनीता बोली, "हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरणको भी हटाए देती हूँ। वही मुझको ढँक रहा है। मुझे चाहते हो न? मैं इन्कार नहीं करती। यह लो—"

इसपर हरिप्रसन्न 'भाभी-भाभी!' कहता हुआ हाथसे आँखें मींचे मींचे उठा और मुँह फेर कर वहाँसे चल पड़ा। कहा, "भाभी, बस। मुझे मारो मत, मारो मत।"

वह चलता चला गया। पास न रहा, दूर चला गया—दूर चला गया।

सुनीता उसी दिगम्बर-प्राय अवस्थामें वहाँ कुछ देर बैठी रही। अनन्तर, उसने अपने वस्त्र फिर पहने और उस फटी हुई बॉडीके कपड़ेको तहाकर सुरक्षित रख लिया।

दिन आनेकी धमकी दे रहा था। चार अब बजे, अब बजे। सुनीता वहाँसे

उठी। हरिप्रसन्न ज्यादा दूर नहीं था। वह बैठा था। वह परास्त था, पुचकारा-सा शान्त था। ठोढ़ी उसकी हथेलीपर टिकी थी, और कोहनी जाँघपर। वह मानों इस अनबूझ विश्व-ग्रन्थमें उलट गए हुए एक अर्द्ध-विरामके चिह्नकी भाँति वहाँ बैठा था—मानों निखिल प्रवाहके बीच क्षणकी एक चुपको चिह्नित करनेके लिए ही वह है, अन्यथा वह कुछ नहीं है—मात्र एक काली बूँद है।

सुनीताने कहा, " हरी बाबू, अब दिन निकलेगा। हम लोग चलें। "

हरिप्रसन्नने सुनीताको बिना देखे कहा, " चलो। "

तब मोटर खोजकर हरिप्रसन्न वेगपूर्वक उसे चलाता हुआ सुनीताके घर आ गया। शीघ्रतापूर्वक उतरकर पिछली सीटकी खिड़की उसी भाँति खोलकर खड़ा हो गया, कुछ बोला नहीं।

सुनीता उतर आई। उसने कहा, " आप कितनी देरमें घर आयेंगे ? "

हरिप्रसन्नने जैसे चौंककर कहा, " मैं ? "

सुनीता घबराई-सी बोली, " नहीं आयेंगे ? "

हरिप्रसन्नने फीकी मुस्कराहटके साथ कहा, " देखिए। भाग्य है ! "

सुनीता ठिठक रही। बोली, " मैं देखती हूँ, आप शायद नहीं आयेंगे ! "

हरिप्रसन्नने कहा, " भाभीजी, सब भाग्य है। भाग्य लाया तो आयेंगे। पर वह लायगा ? "

सुनीता अपने ज़ीनेका ताला खोलने बढ़ गई थी। अब सहसा लौट आकर और हरिप्रसन्नके निश्चल दक्षिण हाथको अपने दोनों हाथोंमें थामकर हरिप्रसन्नकी आँखोंमें भरपूर देखते हुए उसने कहा, " हरी बाबू ! अगर कह सकते हो कि तुम मुझसे प्रेम नहीं करते, तो कहो। बोलो, कहो—"

हरिप्रसन्न इस भाभीको देखता ही रह गया, कुछ भी नहीं बोल सका।

सुनीता बोली, " और अगर करते हो प्रेम, तो कहो, तुम अपनेको मारोगे नहीं। यह तुमसे मैं कहती हूँ, मैं कहती हूँ। मेरी सौगंध खाकर कहो कि तुम अपनेको नहीं मारोगे। हरी, मेरे प्रेमकी सौगंध, तुम अपनेको नहीं मारोगे। "

" भाभी ! "

" नहीं कह सकोगे ? तुम ऐसे असमर्थ ? मैं नहीं जानती थी।—"

" भाभी ! "

" तो क्या मैंने तुम्हें जाननेमें भूल की ? "

हरिप्रसन्नने कहा, " भाभी, मैं कहता हूँ—"

" कहो कि मैं अपनेको नहीं मारूँगा । "

" नहीं मारूँगा । "

" तो हरी बाबू, तुम तुम हो । मेरी ओर देखो । तुम जानते हो, हम प्रेम नहीं जानतीं ? ऐसा नहीं है । " सुनीताकी आँखें भर आईं, " मेरी ओर देखकर तुम यह भी क्यों न कह सको हरी, कि जिससे मैं कहूँगी उससे शादी कर लोगे ? "

यह सुनकर हरिप्रसन्नने मोटरकी खिड़कीका दरवाजा पकड़ लिया । और मानों उसे जल्दी हो, वह उसमें बैठनेको बढ़ा ।

सुनीता बोली, " नहीं कह सकोगे ? "

हरिप्रसन्नने सुनीताकी आँखोंमें ही देखते हुए कहा, " नहीं भाभी, नहीं । "

और हरिप्रसन्न सीटकी ओर बढ़ा। मोटरपर चढ़ता ही था कि सुनीताने झुककर उसके चरणोंकी रज ले ली ।

अब पल-भर भी वहाँ टिकना हरिप्रसन्नके लिए असम्भव हो गया ।

मोटरके अजनने घर्र-घर्र किया, और हरिप्रसन्न आँखसे ओझल हो गया ।

सुनीताने नहीं देखा कि मोटर कहाँ गई और वह तुरन्त उस ओरसे पीठ मोड़कर जीना खोल चढ़ती हुई पहुँच गई वहीं अपने घर ।

४२

जब श्रीकान्त लौटा, सत्या सोई न थी । इतनी देरमें श्रीकान्तको लौटा देखकर उसने निश्चय मनमें जान लिया कि वह घर होकर आए हैं, और घर उन्हें बन्द मिला है । किन्तु सत्या किसी तरहकी बात करनेके लिए उस समय आगे बढ़कर श्रीकान्तके पास नहीं आई ।

सवेरा हो गया । अब श्रीकान्त जायेंगे । उनके मुखपर किसी प्रकारकी छाया देखनेमें नहीं आती है । सत्याने आकर कहा, " आपको नींद ठीक आई, जीजाजी ? "

श्रीकान्तने कहा, " खूब नींद आई । "

सत्या—मैंने गाड़ीको कह दिया है । वह अभी ठीक होकर आ रही है ।

श्रीकान्त—भला किस लिए ?

सत्या—आप जाइएगा न ?

श्रीकान्त—पगली, ताँगेसे जाऊँगा कि गाड़ीसे ! कोई मुझे सुनना है कि मैं क्यों रातको यहाँ रहा, सीधा क्यों नहीं घर चला आया ? जानती नहीं तू अपनी

बहिनको [illegible] कि कहेगी' रातको वहीं रहे होंगे। और खूब बिगडेगी। तू भी सत्या पगली है!

सत्याका जी जीजाकी यह बात सुनकर विस्मयसे भर गया। वह इस जीजाके समक्ष मन ही मन नत-मस्तक हुई।

उसने कहा, "तो ताँगेके लिए कह दूँ?"

"हाँ, कहो।"

सत्याका मन ज्यों ज्यों इस जीजाके प्रति स्नेह और व्यथासे भरता आता है, त्यों ही त्यों वह जीजीके प्रति कठिन और विरुद्ध पड़ती जाती है। उसने कहा, "जीजाजी, मैं भी साथ चलूँ?"

श्रीकान्तने उसकी ओर देखकर कहा, "अभी क्यों, शामको आना।"

तब सत्याने भी अबोध-सी बनकर कहा, "शामको तो मुझे पढने आना है ही।"

श्रीकान्तने इस बातपर सत्या लड़कीको देखा। क्या वह अपने हृदयमें नहीं जान गया है कि अपनी जीजीको ओटमें कर रखनेके लिए ही कल शाम इस सत्याने श्रीकान्तको यहाँ टिका रखनेके वे भाँति भाँतिके जतन किये थे? फिर भी यह लड़की क्या कह रही है!

श्रीकान्तने कहा, "पढ़ने! हाँ पढ़ने तो आओगी ही।"

इस बात-चीतमें दोनोंने दोनोंको समझ लिया। फिर भी दोनोंने यही व्यक्त किया कि मानो वे वास्तविक बातसे अनभिज्ञ हैं।

जब श्रीकान्त घर आया, सुनीता आँगनको बुहार रही थी। उसको देखते ही सुनीताने हाथसे बुहारी बिना छोड़े कहा—आगए! कब आए?

श्रीकान्त—आ ही रहा हूँ।

सुनीता—बडे दिन लगा दिये!

श्रीकान्त—लग ही गये।

सुनीता—अभी आ रहे हो?

श्रीकान्त—देखती तो हो, अभी आ रहा हूँ।

सुनीताने उस समय कहा, "अच्छा ही हुआ। नहीं तो रात आते तो दिक्कत रहती।"

श्रीकान्तने आनायास कहा, "क्या-आ?"

"घर बन्द मिलता। मैं चली गई थी।"

"कहाँ चली गई थीं?"

इसका उत्तर सुनीताने नहीं दिया। वह बुहारीसे आँगन बुहारने लगी।

श्रीकान्तने अपने आप कहा, " और जाती कहाँ ? बहुतसे बहुत सिनेमा चली गई होगी।" कहकर श्रीकान्त अपने कमरेकी ओर बढ़ गया।

सुनीता आँगन बुहारती रही।

थोड़ी देरमें श्रीकान्तने आकर सामने खड़े होकर पूछा, " हरिप्रसन्न कहाँ है ?"

" मालूम नहीं।"

" चला गया ?"

" हाँ, चले गये।"

" कहाँ गया, क्यों गया, यह भी कुछ जानती हो ? मैंने तुमसे कहा था कि उसे जाने मत देना।"

" वह रुके नहीं। मुझसे नहीं रुके। कहाँ गये, नहीं जानती। क्यों गये; यह भी ठीक नहीं जानती। उन्होंने कहा कुछ नहीं।"

" गया कब ?"

" कल रात।"

" कल रात ?"

सुनीताने धीमेसे कहा, " बल्कि आज सवेरे।"

श्रीकान्त वहीं आँगनमें घूमने लगा। मानों उसे अपनेसे झगडना पड रहा हो और वह अपनेसे तंग हो। कुछ देर वह टहलता ही रहा और दो क़दमके फ़ासले-पर सुनीता बुहारी देती रही।

एकाएक श्रीकान्त रुका। क्या वह ठिठका ? शायद, किंतु तभी वेगसे बढ़कर उसने दोनों हाथोंसे सुनीताको उठा लिया, और वहीं आलिंगनमें बाँध लेना चाहा।

सुनीताने कहा, " हैं देखो, क्या करते हो !"

और वह अलग होकर फिर बुहारीमें लग गई।

इस व्यापारमें सुनीताके चेहरेपर मानों नव-वधू जैसा भाव आ गया। मानों कहती हो—' मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छिः छिः ! मेरे लिए यह प्रेमका आवेग कैसा ? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ? मुझे तनिक सँभलने भी तो दो।' और वह बुहारीसे आँगन बुहारनेमें ही लगी रही।

जिस मुखपर पुलकित फिर भी रुद्ध व्रीडाकी लाली छा गई है, उसकी विमलता, —उसकी आभाको देखकर श्रीकान्तके भीतर कहींसे फूटता हुआ सन्देह एकदम अपनी ही लज्जामें गलकर खो गया। श्रीकान्तने इस एक ही क्षणमे अद्भुत

स्वास्थ्य-लाभ किया।
उसने कहा, "रानी, हरिप्रसन्न क्या सदाके लिए गया ? वह लौटेगा नहीं ?"
सुनीताने कहा, "मैं जानती नहीं। सच, नहीं जानती।"
श्रीकान्त चुप रहा।
थोड़ी देर बाद सुनीताने कहा, "वह तस्वीर छोड़ गये हैं। उसका क्या करना होगा ?"
"क्या करना होगा ? क्यों, उसे जड़कर अपने यहाँ लगायेंगे। बोलो, कहाँ लगायें ?"
सुनीताने कहा, "मैं समझती हूँ, उन्हींवाले कमरेमें ठीक रहेगी। वह स्टडी-रूम भी है।"
श्रीकान्तने उसी दिन उस चित्रको रुचि-पूर्वक जड़वाया और ऐसे स्थानपर लगवा दिया कि जिससे स्टडी-रूममें घुसते ही पहले उसपर निगाह पड़े। यह कमरा अबसे उस चित्रको शीर्षपर धारण करके उसकी आँखोंके तले स्वयं सदा बिछा ही रहेगा।
सुनीता एक समय जब उस चित्रको देख देखकर बहुत कुछ समझ रही थी—फिर भी जैसे समझनेको उसमें अभी सभी कुछ बाकी रह जाता था, और उस सब कुछको भी समझ लेना चाह रही थी,—तब पीछेसे आकर श्रीकान्तने उसके कन्धेपर हाथ रखकर कहा, "सुनी, मैं दावेसे कहता हूँ, इस तस्वीरकी क़ीमत बहुत है। एक सौ नहीं है, कई सौ है। हम इसके लिए ईश्वरके और हरिप्रसन्नके कृतज्ञ हैं। क़ीमतके लिए नहीं, तस्वीरके लिए।...हिरनके पेटमें जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है, उसके लिए वह गाँठ है। वह गाँठ उसे तो मौत लाती है, किन्तु उस हरिणके पास वह ही एक ईश्वरकी देन है। उसे ही वह दुनियाको दे सकता है। दुनिया उसीको कस्तूरी कहती है, उसीपर रीझती है, उसीके लिए उसे मारती है।...यह चित्र, सुनीता, हरिप्रसन्नके चित्तकी गाँठ है। यह वह है जिसे हम आर्ट कहेंगे और बहुमूल्य बनायेंगे। इसीलिए तो कि इसमें बँधा है प्रति-क्षण उसके प्रत्येक अणुमें स्पंदित होता रहनेवाला वह प्रश्न,—वह जिज्ञासा, वह आकांक्षा जो हरिप्रसन्नके जीवनका जीवन थी, जिसने उसे सदा यों भटकाये रक्खा। आज क्या मैं नहीं जानता कि यह गाँठ उसके भीतरसे खींच निकालनेमें उपलक्ष्य तुम बनीं ? हाँ, तुम। मैं इसके

लिए तुम्हारा चिर-कृतज्ञ हूँ, सुनीता। दुनिया जब यह जानेगी, वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्बन्धमें मेरा पतित्व इस कलाकृतिमें भरी व्यथाके समक्ष मात्र थोथा ही तो कहीं नहीं है।...."

सुनीताने अपने स्वामीके वक्षमें मुँह टिका लिया।

"सुनीता, अब भी क्या हरिप्रसन्नमें ग्रंथि अवशिष्ट है? उसे क्या फिर बुलानेका साधन नहीं हो सकेगा?"

सुनीताने कहा, "मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जावें नहीं, रुके। सच कहती हूँ, मैंने अपनेको नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गये हैं। मुझे डर लगता है—"

"देखना होगा, कहाँ गया है। बट अवर क्वीन कैन डू नो रॉंग।"

किन्तु सुनीताने तो मानों यह सुना ही नहीं। उसने कहा, "लेकिन, अब मुझे छोडकर तुम न जाना। क्या विधाताने हमें व्यर्थ ही नारी बनाया है? इस प्रार्थनाका अधिकार क्या हमें पतिके निकट भी न होगा कि स्वामीसे कहें, 'नाथ, हमें छोडकर जाना मत।' इस अधिकारमें तो तुम सदा सदा मेरे हो।"

श्रीकान्तने अपने वक्षमें टिके हुए सुनीताके चेहरेको धीमे धीमे थपकते हुए हँसकर कहा, "उस तस्वीरमें जिसको चिर-जिज्ञासामें हरिप्रसन्नने 'तू!' से सम्बोधन किया है वह पीछे कुछ और है, पहले नारी है। मैं भी क्या तुमसे कहूँ कि अरी ओ छलनामयी! अरी ओ तू!"

सुनीताने छिटककर व्याज-व्रीडाके भावसे कहा, "हटो हटो!"